

## सम्पादकीय

विगत सौ वर्षों में विज्ञान एवं तकनीक के क्षेत्र में अद्भुत विकास हुआ है। इस विकास से मानव जीवन भौतिक दृष्टि से पहले से अधिक खुशहाल एवं समृद्ध हुआ है। साथ ही साथ उसके जानने-समझने के ज्ञान में भी वृद्धि हुई है। उसने अपनी इस नवीन ज्ञानदृष्टि से प्राचीन काल से चली आ रही मान्यताओं-प्रथाओं को जाँचा-परखा और जो उसे वैज्ञानिक दृष्टि से सही लगा उसे स्वीकार किया, शेष को छोड़ दिया।

प्राचीन मान्यता के अनुसार इस जगत का सृजनकर्ता-पालनकर्ता कोई ईश्वरीय शक्ति है। उसके द्वारा स्थापित नैतिक विधान के अनुसार ही सभी व्यवस्थायें संचालित होती हैं। इस नैतिक विधान को धर्म या ऋत् भी कहा जाता है। इसी धार्मिक मान्यता-विधान द्वारा किये जाने वाले सभी मानवीय कर्म उचित होते हैं। इससे पृथक् सभी कर्म अनुचित। सभी प्रकार के मानवीय कर्म इसी धर्म की स्थापना और ईश्वरीय शक्ति के साक्षात्कार के लिए किये जाने चाहिए।

इस प्राचीन धर्म सम्मत मान्यता-परम्परा द्वारा संचालित व्यवस्था ने मानवीय चरित्र-सद्गुण को सभी उपलब्धियों से श्रेष्ठ माना। इसी कारण स्थापित सभी महापुरुष हमारे आदर्श एवं प्रेरणा स्रोत हैं। लेकिन विज्ञान और तकनीक के निरन्तर विकास ने इस प्राचीन मान्यता को प्रभावित किया है। इस मान्यता की जगह तथाकथित नवीन मान्यता ने अपना स्थान बनाना शुरू कर दिया है। इस तथाकथित नवीन मान्यता के अनुसार मानवीय व्यवस्था धर्म से नहीं धन से संचालित होती है। धन प्राप्ति ही जीवन का प्रमुख लक्ष्य है। इसी के द्वारा सभी प्रकार के कर्तव्य पूरे किये जा सकते हैं और जीवन खुशहाल हो सकता है। इस अर्थ दर्शन के कारण ही जीवन मूल्यों में परिवर्तन हुआ। जिसके परिणाम स्वरूप प्रेम का स्थान स्वार्थ ने, दान का स्थान शोषण ने, तप का स्थान भोग ने ग्रहण कर लिया। इसी बाजारवादी दर्शन को अनेक रूपों में समाज, परिवार एवं शिक्षण संस्थाओं द्वारा पढ़ाया भी जा रहा है।

इस अप्राकृतिक ज्ञान सम्वर्द्धन के कारण मनुष्य का सम्बन्ध, लोक-व्यवहार सभी जीव-जन्तुओं, प्राकृतिक-सम्पदा, पर्यावरण के साथ पोषक की जगह शोषक का दिखाई पड़ता है। जिसके कारण विभिन्न तरह के संकट पैदा हो गये हैं। इस संकट से बचने का इस विज्ञान-तकनीक के पास कोई विकल्प नहीं है। जिस जीवन की खुशहाली के लिए इसका विकास हुआ, उसे बाजारवादी शक्ति ने दुःख रूप में बदल दिया। आज पुनः एक ऐसे संगठित प्रयास की जरूरत है, जिसके बल पर मानवीय सभ्यता को कल्याणकारी बनाया जा सके। इसके लिए अर्थ दर्शन की जगह मूल्य-दर्शन आधारित नवीन मान्यता-परम्परा को विकसित करना होगा। सभी सच्चे अर्थों में मानव जीवन विकसित एवं खुशहाल हो सकता है।

# मूल्य की खोज

डॉ० चन्द्रमूषण पाण्डेय

साधारण बोल चाल में जिस "मूल्य" शब्द का प्रयोग बहुधा होता है, वह एक तकनीकी शब्द है, जिसे बाजार-व्यवस्था से लिया गया है। इस दृष्टि से 'मूल्य' बाजार व किसी वस्तु, उत्पाद या सेवा के बदले चुकाई गयी 'चीजें' है। मुद्रा इस चीज का सबसे व्यापक और प्रचलित रूप है। समाज में भी आजकल यह शब्द बहुत प्रचलित हो गया है परन्तु बदले अर्थ में। आदमी की सोच, उसका आचरण या आविष्कारों के उपयोग के पीछे की मंशा-सभी कुछ का आकलन यह संसार और समाज करता है। इस आकलन में वह किसी चीज, सोच या आचरण को कई दर्जा दे सकता है। जैसे यह व्यर्थ है या यह कुछ काल और स्थान के लिए कामचलाऊ है, अथवा यह बहुत समय के लिए, बहुत लोगों और बहुत जगहों के लिए उचित है। इन आकलनों के माध्यम से जिन आचरणों को वह बहुत स्थानों, बहुत मनुष्यों और बहुत काल के लिए उचित कहता है— वे ही आचरण समाज-व्यवस्था में मूल्य के रूप में स्वीकार किए जाते हैं।

जीवन एक यात्रा है। यह अज्ञात से शुरु होकर, संसार-समाज के वस्तुओं और सम्बन्धों के जाल को छूती हुई किसी विज्ञात में जाकर समा जाती है। इस दौरान इसे सांसारिक और संसारेतर कई व्यवस्थाओं, अनुभवों, स्मृतियों और कल्पनाओं तथा मिथकों से गुजरना पड़ता है। मनुष्य और सामाजिक सदस्य के रूप में चेतन मनुष्यों को ये सारी चीजें प्रभावित करती हैं। इन्हीं की बहुलता के बीच आदमी अपने लक्ष्य और साधनों का चुनाव करता है। जिन चुनावों को समाज स्वीकृति देकर उससे बार-बार किए जाने की अभिलाषा रखता है, उन्हें वह 'मूल्य' नाम देकर गौरव प्रदान कर देता

है। परन्तु यह मूल्य 'वस्तु' या सेवा के लिए दिए जाने वाले मूल्य से बिल्कुल अलग और गैरबाजारवादी है। बाजार में प्रचलित मूल्य लाभकर मांग, पूर्ति और क्रेज की मूल प्रेरणा पर आधारित है। उपभोक्ता की आवश्यकता की कसौटी पर जो वस्तु या सेवा, जितने स्वार्थों की पूर्ति कर सकती है, वह उतनी मूल्यवान है। इसमें 'स्वार्थ' प्रधान है। समाज में जिन्हें मूल्य कहा जाता है, वे सब त्याग, दान, असंग्रह, उदात्तता और परचिन्तन व्यवस्था की अन्तः प्रेरणा से अनुप्राणित होते हैं। हालाँकि, कई कारणों से, जिनका उल्लेख हम करेंगे, अब सामाजिक मूल्य भी बाजार में प्रचलित मूल्यों की तरह समझे जाने और प्रयोग में आने लगे हैं।

सबसे पुराने राष्ट्र और सांस्कृतिक ईकाई भारत में मूल्यों को श्रेष्ठ मूल्य के रूप में माने जाने के पीछे एक शर्त थी। शरीर के भीतरी अंगों के ऊपर जैसे चमड़े का होना जरूरी है, ठीक उसी तरह सामान्य-सामाजिक, राजनैतिक, जीवन और आर्थिक गतिविधियों के भौतिक व प्रातीतिकी (Symbolic) मूल्यों पर अध्यात्म की परत का होना—वेष्टन के रूप में। महात्मा गांधी अपने जीवन का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि "जो मूल्य आध्यात्मिक पवित्रता से संवारे नहीं जाते वे भय और कायरता अथवा भोग और आक्रामकता पैदा करते हैं। जीवन तो ऐसे, वैसे कैसे भी जिया जा सकता है, पर जीवन सार्थक और मूल्यवान हो; इसके लिए जरूरी है कि घोर भौतिक मूल्य को भी अध्यात्म के अंकुश में रखा जाये। अध्यात्म अन्धविश्वास नहीं, विश्वास की पराकाष्ठा है। यह संसार के बाहर की खोज नहीं वरन् संसार के 'समस्त' के भीतर समाई सत्ता के प्रति जागृति है। इसीलिए वे कहते हैं कि गीता मुझे

राह दिखाती है, राम मेरा लक्ष्य है, पर मेरे जीवन में श्रेष्ठतम मूल्य जो है वह ईशावास्यमिदम् के विश्वास से संचालित होता है। यह मनुष्य से बड़ी सत्ता में विश्वास करने की प्रेरणा देता है ताकि छोटों को भी सम्मानपूर्ण स्वीकृति देने की शक्ति पैदा हो सके। यह जगत और उसमें जीने की कला का पोषक है, जो सिखाता है कि, लूट कर ले लेने की जगह, त्यागपूर्ण प्राप्ति ही मानव-मूल्य है। यही अहिंसा की लौ को ज्योति देता है। 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा' का वाक्य मेरा निर्देशक है।"

अर्थ और काम समेत जीवन का सब कुछ अध्यात्म से संचालित होने की बात मनु ने भी की थी और चाणक्य ने भी। पर मनु सम्राट की भूमिका में थे और चाणक्य, सम्राट बनाने वाले की भूमिका में। गांधी राष्ट्रसेवक फकीर थे। केवल इन तीन जनों के एक ही चिन्तन का परिणाम देखिये। गांधी के चिन्तन की भूमि से अहिंसा और समता के बीज उगे। मनु और चाणक्य के दृष्टिकोण की भिन्नता के कारण समाज में असमानता के जिन मूल्यों ने जन्म लिया, उन्होंने धीरे-धीरे बढ़कर अछूत, शूद्र जैसे रूप धारण कर लिए।.....और आज तो सारी दुनिया की तस्वीर में 'ताकत' के ही रंग दिखते हैं। और, इसीलिए एक मानव जाति के होने पर भी, दृष्टिकोण भिन्नता के चलते, मूल्यों के रूप, स्तर, गुण सब बदल रहे हैं। अकेले चिन्तन के आगे भारत में अब अनेक ताकतें पैदा हो गयी हैं। धन की विपुलता की, बाजारवाद की, राज्यवाद की, विज्ञानवाद की, आदि आदि। इन्होंने मूल्य सृष्टि और दृष्टि दोनों को बदल दिया है। मूल्यों के अर्थ, नए नए जन्मे वर्गों और समूहों के चलते (अ) सुपर क्लास (ब) हाई क्लास (स) मिडिल क्लास (द) अर्थ टचिंग क्लास में—

अलग-अलग लगाये जा रहे हैं। जिन मूल्यों के आगे अर्थ टचिंग क्लास व मिडिल क्लास श्रद्धा दिखाते हैं, उन्हीं मूल्यों को दूसरे वर्ग, स्लाटर हाऊस में कटती गायों की तरह काट कर हंसते हैं। मूल्य विकृति पर हम आगे के पृष्ठों पर कारण समेत विचार करने का यत्न करेंगे। पर यहाँ हम इतना अवश्य कहना चाहेंगे कि राजनीतिक युद्धों को छोड़कर, जितनी भी जनक्रान्तियां या वर्ग संघर्ष जैसा कुछ भी, सामाजिक धरातल पर हो रहा है उसके पीछे मूल्यों के पक्षपात, मूल्य टूटन या नए मूल्यों की ही भूमिका है। 'गरीबी में सन्तोष' का मूल्य, शोषण के विविध मूल्यों के खिलाफ लड़ रहा है— इसे लड़ने वाले हाथ और हथियार—दोनों ही जानते हैं। प्रसिद्ध समाजशास्त्री प्रो० राधाकुमुद मुखर्जी ने मूल्य व्यवस्था को जिन तीन वर्गों (जैविक मूल्य, सामाजिक मूल्य, आध्यात्मिक मूल्य) में बांटा, वे सभी इस सामाजिक संघर्ष में लड़ते हुए वर्गों से अपनी स्टैन्डर्ड परिभाषा पूछ रहे हैं। आज के उन परिदृश्यों के बीच, मूल्य विमर्श की घड़ी में, यह विचार करना होगा कि उत्कट अन्तर भोग रहे समाजों तथा निर्लज्ज हो गये शक्ति संगठनों के बीच कैसे मूल्य हों, जो सबको स्वीकृत हों। मूल्य हों भी कि, केवल अवसर हों? साधन, पवित्र और आदर्श के निकट हो या केवल अन्धे बना रहे लक्ष्य हों? शायद ऐसे सवाल सदा से पूछे जाते रहे होंगे। कम या अधिक। उनके उत्तर खोजने की जो ईमानदार कोशिश हुई होगी, उसी कोशिश के गर्भ से पैदा हुआ होगा भारतीय आर्ष चिन्तन का कोष। वेद, उपनिषद, ब्राह्मण और स्मृति ग्रन्थों आदि के रूप में। लोकगाथायें, परम्परायें और अनेक मिथक इसी से उपजे होंगे। आज उन पैमानों को विज्ञान और वैज्ञानिक चिन्तन अविश्वास से देखता



है। तटस्थ प्रयोगवादी विज्ञान 'सर्वेश सत्ता और मनुष्यता' के भावबोध को स्वीकार नहीं कर पा रहा है। परिणामतः मूल्यों के भीतर छिपा लोकोत्तर आनन्द और आदर्श व नियंत्रण भी पहले के स्तर पर स्वीकृत नहीं हो पा रहा है। चूंकि विज्ञान और टेक्नोलाजी जन-जन की संस्कृति का निर्णायक हो रहा है, इसीलिए उसकी मूल्यों के प्रति जो दृष्टि है, वही जन-जन की, खास तौर पर नई पीढ़ी की दृष्टि बनती जा रही है। इसे देखकर अनेक विशिष्ट विचारकों का भाव है कि विज्ञान का 'अतिउत्साह' ही मूल्य निषेध का कारण है। मेरी दृष्टि में, विज्ञान जब तक ऐसे मूल्य-निषेध को उकसाता रहेगा, वह अपरिपक्व और अधूरा रहेगा। विज्ञान उस दिन पूरा होगा, जिस दिन वह मानवीय मूल्यों, आदर्शों और धर्म के सत्यों को लक्ष्य मानकर खुद को उनके परिष्कार का साधन मात्र मान लेगा। .....पर अभी तो हम एक पुराना युग, अंजाम और आचरण छोड़कर विज्ञान की गुलामी में बंध कर जीने की ललक पाले हैं— जहाँ विज्ञान मूल्य भ्रंशक दार्शनिक की भूमिका में खड़ा है।

विज्ञान के समानान्तर आज दो अन्य शक्तियां भी उद्दाम होकर उभरी हैं। शायद शक्तियां उद्दाम होती ही हैं। ये भी मूल्यों के अस्तित्व पर संकट बढ़ा रही हैं। पहली शक्ति है— अर्थव्यवस्था की बाजारवादी संस्कृति। इस संस्कृति के प्रभाव से नित्य लाभ और भोग की चाह पैदा होती है। यह वस्तु या व्यवहार, सब कुछ को बाजार में तब्दील कर देती है। यह जीवन की वस्तु को मूल्यवान बनाती है। प्राण और प्राणी को, प्रकृति एवं संस्कृति को, रिश्ते और रोशनी को, मूल्य व आदर्शों को बिकाऊ बनाती है। बस, बोली लगाने वाला चाहिए।

दूसरी दुर्दमनीय शक्ति है— राजसत्ता।

हथियारों से संरक्षित पदों, शक्तियों की दबाव भरी संरचना, जिसकी हर मशीनरी खुद तो स्तरीकृत होती ही है, जनता को भी बांटकर आदमी को प्रजा बनाती है। उनके दिल और दिमाग तक को अपने सांचे में ढालने के लिए मसलती हुई चलती है। वैसे अर्थ-सत्ता और राज्य-सत्ता आपस में प्रतिस्पर्धा ज्यादा करती हैं, पर ये मिलकर काम करने लगें तो ये जीवन मूल्यों और 'मानवीय मूल्यों' को अपने हित के लिए, सर्वाधिक विकृत करती हैं। आदमी और उसकी वैचारिकी को मार डालने की हद तक।

दर्शन और धर्म की जगह लेते मजहबों ने भी एक अन्य महत्तम शक्ति होने की बात रखी है। इन्होंने जब-जब उस महत्तम शक्ति को बताने के लिए तर्क मण्डित मस्तिष्क का सहारा लिया, तब-तब वही शक्ति खण्ड, झुण्ड में बंटे हुए आदमियों की आंखों से अलग-अलग रूप-नाम में दिखाई देती है, जैसे अल्लाह, ईश्वर या गाड आदि। यह दिखना इतना उत्तेजक और अन्धा बनाने वाला होता है कि लोग दूसरे के द्वारा किए गये दर्शन के विरुद्ध खेमें बनाकर तलवार और त्रिशूल तथा क्रास पर उतर आते हैं। महाशक्ति सिमट कर मंदिर का देवता, मस्जिद की भीड़ और चर्च की चर्चा बन जाती है। मूल्यों को इसके कारण मरते हुए इतिहास ने अनेक बार देखा है। इसमें वह ताकत है कि हिंसा भी मूल्य बन जाती है।..... किन्तु इसी महाशक्ति को जब तर्क और अहंपूर्ण मस्तिष्क से न देखकर दिल की खिड़कियों— श्रद्धा, आस्था, और विवेकशीलता से समझा जाता है तो इस शक्ति से आकार और लोगों के खेमे खत्म हो जाते हैं। ऐसे में पहली बार पता लगता है कि महाशक्ति (ब्रह्म) किसी एक की नहीं, सबकी अन्तिम आवश्यकता है। यहीं यह भी बोध होता है कि



विज्ञान और बाजार के उत्पाद देह और समझ को स्वरुथ बनाने के लिए हैं, जिससे एक परिपूर्ण जीवन जीकर 'स्वयं' का ज्ञान खोजा जा सके। स्वयं का ज्ञान होते ही संसार में फैला सब कुछ, विविधता के अम्बार के बीच, अपने ही तुल्य समझ में आने लगता है। और तब, जीवन-मूल्य निरपेक्ष, शाश्वत और वैश्विक बन कर उभरते हैं। निरपेक्षता और शाश्वतता की इसी ऊंचाई को छूने के लिए हम समाज के सदस्य के रूप में, संसार व समाज और उसके उपादानों को साधन के रूप में स्वीकार करते हैं। इस स्वीकृति के लिए हम दूसरों को जितना अवसर देते हैं—वे दिये गये अवसर ही मूल्य में बदल जाते हैं। जीवन के लिए सामान्य उपयोगी वस्तुओं को पाने, बटोरने की प्रतिस्पर्धा से उठकर जब कोई "सबकी अन्तिम आवश्यकता रूपी महाशक्ति के लिए काम करता है तो, व्यर्थ प्रतियोगितायें खत्म होती हैं। जीवन के वृहद् मूल्य पैदा होते हैं। इन वृहद् मूल्यों में 'सर्व', 'बहु' और 'स्वयं' तीनों समाये होते हैं। संसार की श्रेष्ठतम संस्कृति और आचरण व्यवस्था के पैदा होने की सम्भावना तभी बनती है जो पुकार कर कह सकती है—

*सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः*

*सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चित् दुःख भागं भवेत्॥*

तब पैदा होता है कोई मूल्य—पालक व प्रचारक। कोई राम, कृष्ण, श्रवणकुमार, जनक, ईसा, मुहम्मद जैसी सम्भावनायें बनती हैं। गांधी सा मनुष्य सामने आता है जो मूल्यों के शिखर पर 'शिव-बोध' में डूब कर घोषणा करता है कि "ऐसे कुछ कारण हो सकते हैं, जिनके चलते मैं खुद मृत्यु स्वीकार कर सकता हूँ किन्तु मेरी दृष्टि में एक भी ऐसा कारण नहीं है जिसके चलते मैं किसी दूसरे को मार सकूँ"।

पर, जीवनमात्र वृहद् मूल्यों से नहीं चलता। जीवन ऊंचाइयों, नीचाइयों के औसत का खेल है। त्याग और चाह का जोड़ है। इसलिए, वृहद् मूल्यों की छाया तले औसत सामाजिक-जैविक व आध्यात्मिक मूल्य बहुत जरूरी और उपयोगी हैं। वृहद् मूल्य, किसी इन्जन की शक्तिपूर्ण अधिकतम गति का रूप हैं, पर जैसे मध्यम गति बनाए रखने या गति को रोकने के लिए ब्रेक व गीयर की भूमिका उल्लेखनीय है—वैसे ही, वृहद् मूल्यों (निरपेक्ष व शाश्वत मूल्य) और औसत जीवन मूल्यों (काल+स्थान+परिवेश प्रभावित) का सम्बन्ध है।

मूल्यमय आचरण व विचार कल की भी जरूरत थे, आने वाले कल के लिए भी जरूरी रहेंगे। पर आज तो इनके बिना काम चलता नहीं दीखता क्योंकि इस समय राष्ट्र, राज्य व अनुशासन सीमायें खो रहे हैं। राजा-प्रजा, खुद और खुदा, नीति और नाते सुनामी की लहर भोग रहे हैं। महामना मालवीय जैसा 'माली' फिर चाहिए जो किसी "मूल्य विश्वविद्यालय" की स्थापना कर सके। परिवार, शिक्षा और समाज, 'परिस्थिति-परिष्कार' का व्रत लेकर इस चिन्ता का उत्तर खोजें तो कुछ आशा बँध सकती है। विज्ञान, बाजार और भीड़ का विस्फोट नियंत्रित हो तो बात बने। पर कैसे हो यह?

कहते हैं, साहित्य समाज का दर्पण होता है। भारतीय पुरातन साहित्यों में जीवन मूल्यों पर, उनकी गति-अगति और आयामों पर बहुत चर्चा हुई है। ऐसा लगता है भारत में पहले भी मूल्य संकट था जिन पर बखूबी विमर्श हुआ भी दीखता है। मूल्य क्यों टूटे, क्यों छूटे या छोड़ दिए गये—जैसे प्रश्नों पर मंथन करते समय निष्कर्ष खोजा गया कि भीर (भीड़) और भार (अवांछित आचरणों का अम्बार) मूल्य भंजक हैं।

ऐसे कथानकों का उल्लेख हुआ है जिनमें धीरज और क्षमा जैसे मूल्यों वाली पृथ्वी दिव्य शक्तियों वाली सत्ताओं से कहती है कि मुझ पर भीर और भार बढ़ गए हैं और मैं मातृमूल्यों का पालन करने में असमर्थ हो गयी हूँ। द्वापरान्त में भीर और भार बढ़ जाने के कारण टूटे मूल्यों की पुनर्स्थापना के लिए जो महाभारत युद्ध लड़ा गया उसके अन्धे नायक धृतराष्ट्र के कथन और आचरण से मूल्य व्यवस्था की एक अद्भुत तस्वीर सामने आती है। व्यास लिखित यह महाकाव्य गहरे समझने लायक है। संस्कृत साहित्य में नाम रखने का एक व्याकरण-शास्त्र है। कम से कम राजाओं का नाम उसके निर्देशन में रखा जाता था। इस दृष्टि से धृतराष्ट्र नाम का गहन अर्थ है। धृतराष्ट्र, आदर्श मूल्यों के पुंज को बताता है जो किसी राजनीतिक ईकाई 'राज्य' को अपने आदर्श मूल्यों के प्रसार से "राष्ट्र" यानि समर्पण व सांस्कृतिक ईकाई में बदल दे। जिन मूल्यों के चलते राष्ट्र को धारण किया जा सके, वह है धृतराष्ट्र। पर धृतराष्ट्र अन्धा हुआ तो? जैसा कि महाभारत का नायक धृतराष्ट्र था। तब धृतराष्ट्र "अन्धी हो गयी, राह और रीति खो गये मूल्यों" का केन्द्र बन जाता है। ऐसा नायक नेतृत्व करे तो राष्ट्र-चेतना, माटी की दीवारों में घिरे 'राज्य की सोच' तक सीमित हो जाती है।

राज्य की 'सोच' अस्त्र-शस्त्रों का ढूँह और विवादों का निर्माण करती है। संग्राम के मूल्य पैदा होते हैं। सीमा की दृष्टि से राज्य वृहद् हो भारत जैसा या छोटे हों परिवार जितना, ऐसी सोचें झगड़ा पैदा करती हैं। विवाद और श्रेष्ठता तथा मालिकाना का संघर्ष जन्म लेता है। राज्य स्तर पर इस घटना का उदाहरण है महाभारत-युद्ध और परिवार स्तर पर उदाहरण है युधिष्ठिर का खण्डित घर। वह खण्डित घर,

जहां भीष्म का सम्मान भस्म हो जाता है। नाते में बहू, शरीर से नारी (द्रौपदी) जुए का दाँव घोषित हो जाती है। पद से महारानी, उम्र में सबसे श्रेष्ठ, गान्धारी ओढ़े हुए अन्धत्व को व्रत मान कर जीने के लिए विवश हो जाती है। माटी, महल, मुद्रा (धन), मुकुट का दाम बढ़ जाता है। मानुष का खून सस्ता। आचरण में रंजित। मूल्य तिरोहित। राज्य बनते ही सीमा सम्मान का नहीं, संग्राम का संगम हो जाती है। महाभारत हो या आज, मूल्य-भ्रंश और भंजन का प्रभाव जन समूह, परिवार, सेना सबमें प्रवेश पा जाता है। महाभारत काल में उपजा मूल्य संकट आज भी प्रतिबिम्बित हो रहा है। वैसे ही आज भी गुरु की गरिमा, नातों का आदर्श, वृद्धों का सम्मान अपनों से मुँह छिपा रहे हैं। जिनसे भरोसा था, ऐसे मान्य और कथित श्रेष्ठ लोग पैसे और पद के लिए असत्य और अन्याय का दामन थाम रहे हैं। पैसे का प्रभाव तो इतना बढ़ गया है कि उसके लिए पालनहारों में अनेक अपने पाल्यों के शीश काट लेने को नीति बताने लगे हैं। पत्थर में भगवान देखने वालों को आदमी अछूत खिलौना दिख रहा है। पैसे, पद, अवसर और घृणा से भरे कभी के दलित आज के अनेक जनों के प्रति जातीय विद्वेष की सुई चुभोने का भाव रखते हैं जबकि इन जनों का दलनकर्म और दलित राजनीति से कोई सरोकार नहीं है।

महाभारत में पैसे ने इन्सानियत के मूल्यों को खूब खरीदा था, आज की तरह ही। तभी तो भीष्म पर्व में भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य ने युधिष्ठिर से कहा था— पैसा (धन) सबको गुलाम बना लेता है। धन किसी का (राज्य का भी) गुलाम नहीं होता। हम दुर्योधन के माध्यम से धन द्वारा खरीद लिए गये हैं। हम से अब अयुद्ध

और न्याय की उम्मीद मत करो। हम तुझ स्वजन और सज्जन का नाश करेंगे ही। आगे चलकर बुद्ध की भी यही दशा रही। बुद्ध के धर्म संघों को धन और सुविधाएँ देकर पितृहन्ता परम्परा के नायक अजातशत्रु ने बुद्ध को, मानो अपने अत्याचारों के विरुद्ध बोलने से मौन कर दिया। आज क्या है? हम आम आदमी मूल्य-विमर्श के वाक्-जंगल में उचित-अनुचित, सही-गलत की तलाश करते चुक जाते हैं।

हमारी सबसे प्रिय आधुनिक ताकत "विज्ञान और उससे पैदा हुई 'टैक्नोलाजी' ने भी भयंकर 'लाइफ लैग' (life lag) पैदा किया है। एक प्राणी की तरह आदमी और उसके परिवेश के लिए इस ताकत ने जो दिया, उसने आदमी जाति का बहुत कल्याण किया, पर अनजाने ही आदमी की मनोआध्यात्मिक धारा को गहरे तक छीन लिया या प्रतिक्रियावादी बना दिया है। आदमियत चूक गई है। आदमियत यानी 'भाव-सत्ता' जहां मूल्य बनते, पोषित होते या आकलन पाते हैं। तभी तो आदमी, भौतिक वस्तुएं एवं सूचनाएं पाकर अहं युक्त हो रहा है। देश के देश हथियारों का जखीरा और प्रयोगों की भूमि बन रहे हैं। गणित और विज्ञान के सिद्धान्त डाक्टरों को हृदयहीन सौदागर में बदल रहे हैं। विज्ञान से तर्क और तटस्थता का जो पैमाना विकसित हुआ है उसने मां के मूल्य को इतना बदल दिया है कि वह अपने ही गर्भ के शिशु का पतन कराकर भ्रूण को खुद अपने ही हाथों से कड़ाही में भूनकर पंचसितारा होटलों में ग्राहकों को परोस रही है। विज्ञान के वस्तुवादी रूप ने पुराने मूल्यों को घायल किया है। तो क्या, उसने जीवन के नये मूल्यों का सृजन कर लिया है, जो मानव मात्र को आचरण की राह दिखायें या संतोष प्रदान कर सकें? अच्छा हो

इसका उत्तर जेल में, बार में, अस्पतालों में, या निठारी गांव की गलियों में ढूंढा जाय।

भारतीय पुरा कथाओं में असुरों का उल्लेख है, जिनके पास विज्ञान की अपरिमित सत्ता थी और इस सत्ता के चलते उनके बीच से 'जीवन' के आदर्श लुप्त होकर भोग के मूल्यों से आक्रान्त हो रहे थे। वे असुर (अ+सुर) ही इसलिए कहे गए कि उनके विज्ञान ने प्रकृति के नियमों, उपादानों के सिद्धान्त और टैक्नोलाजी की महान खोजों के बीच 'आत्मा और आत्मचेतना' के सूक्ष्म सत्त्यों की उपेक्षा कर दी। भारतीय चिंतन के अनुसार, 'सम्यक जीवन', देह और आत्मा तथा आत्मचेतना से संपृक्त होकर बनता है। देह और आत्मा के संयोग से ही जीवन का सुर बजता है। जो इस सुर की उपेक्षा-भौतिक विज्ञानों के अहंकार के कारण-करता है, वह असुर है। असुरता का स्वभाव है आदर्शों और मूल्यों का भंजन। आज, जब हम मूल्यों की खोज, उनकी आवश्यकता, उनके रूप पर विमर्श करने की सोच रहे हैं, तो किसी निर्णय पर पहुँचने के पहले, अपनी धरती पर मानो उसी विज्ञान और बाजार का आग्रह दिखाई दे रहा है जो धरती पर 'भीर' और 'भार' को उपभोग की संस्कृति सौंप रहा है। आदर्श त्याग, सन्तोष, सर्वहित जैसे मूल्य बासी भात की तरह समाज के उन उपेक्षित जनों के लिए चिन्ता/विमर्श करने के लिए छोड़ दिए गये हैं, जो अपना जीवन तो करीब-करीब जी चुके हैं, पर अन्य उत्साही प्रतिस्पर्द्धियों-जो दौड़ना और अपना स्थान बनाना चाहते हैं- के लिए रोड़ा घोषित हो चुके हैं, जैसे- वृद्ध, रोगी, परिजन विहीन और साधन हीन।

तकनीकी विकास (Technological advancement) और विस्फोट के कगार पर पहुंची



जनसंख्या की मांग के कारण औद्योगिकीकरण का फैलाव हुआ है। इसकी दो पांखें हैं— (1) नगरीकरण व (2) यातायात। उद्योग, शहर और यातायात के उपक्रम तो सदा से रहे हैं। पर, आज इनका विस्तार सैलाब की तरह हो रहा है। बढ़ती जनसंख्या तो सड़क से संसद तक 'धकियाने' का अमूल्य पैदा करने लगी है जिसमें औद्योगिकीकरण, नगरीकरण और यातायात से उत्पन्न प्रभावों ने और तीव्रता ला दिया है। इनके चलते अपमूल्यों की नई खेप और नई विचारधारा आ रही है। 'अपरिचय अविश्वास, भोगो और भागो' जैसे आचरण पैदा हो रहे हैं। ईश्वर के नाम के बाद जिसका नाम दुनिया में सबसे अधिक सुना और मथा गया है, उस कम्यूनिज्म के महान दार्शनिक विचारक कार्ल मार्क्स का निष्कर्ष था कि 'उत्पादन के साधन', 'उत्पादन की मात्रा' और वस्तुओं के उपभोग के लिए वितरण की व्यवस्थाएं— ऐसी शक्तियां हैं जो विचार व्यवस्था और मूल्यों में जड़ तक परिवर्तन ला देती हैं। औद्योगिकी, नगरीकरण, यातायात ऐसी ही शक्ति के रूप में उभरे हैं। ये परिवर्तन की ताकत बन गये हैं। इनके चलते आदमी इतना कसा और उलझा हो गया है कि उसे मृत्यु पर शोक और जन्म पर आशीष देने की भी प्रेरणा नहीं होती। लोग साधनों की पवित्रता की बात न सोच कर लक्ष्य प्राप्ति में सफलता का आचरण अपनाते हैं। जो सफलता की गति धीमी करते हों, ऐसे मूल्यों को 'मल' की तरह बुहार फेंका जाने लगा है चाहे अपने में कितने ही उदात्त क्यों न हों।

संसार भर के दार्शनिक विचारकों ने शिक्षा को न केवल उत्थान का साधन माना है बल्कि मूल्यों का पोषक, परिभाषक व जनक भी कहा है। पर कौन सी शिक्षा? जिसे सरकार

एड्स का भय दिखाकर पाठ्यक्रम में जोड़ रही है? अनेक मदरसों के नाम पर आतंक सिखाने वाली शिक्षा? वैश्विक ज्ञान के प्रकाश से वंचित करती कूप मण्डूक बनाने वाली शिक्षा? मातृभाषा को दायम तेयम् दर्जा दिलाती शिक्षा? अपनी समृद्धतम् संस्कृतिप्रधान परम्परा को दकियानूस कहकर परदेशी सोच पर आधारित शिक्षा?..... शिक्षा साक्षरता तक सीमित नहीं है। वह किताबों में भरी सूचना मात्र नहीं है। वह तर्क और तकरार नहीं है। शिक्षा समझ की स्थापना, विवेक की पोषिका, गहरे प्रश्न उठाने की क्षमता तथा उत्तर खोजने की यात्रा में आस्था की स्वीकृति है। यह अन्तःकरण की प्रकाशिका और बाहर के स्तर पर दूसरों के द्वारा पहचान ली जाने वाली योग्यता है। यह भूत से उपदेश लेती है, वर्तमान के लिए काम करती है और भविष्य के लिए मार्ग निश्चित करती है।..... शिक्षा पुचकारने से शुरू होती है, डांटने से स्थायी बनती है और अनुकूल दण्ड से प्रतिस्पर्द्धा करने की शक्ति प्राप्त करती है। अर्थ दण्ड का विधान तो छात्र में पैसे का अभिमान पैदा करता है और धनवान तथा निर्धन का बंटवारा करता है। इसलिए सदय अध्यापक गुरु की दृष्टि में शिक्षा, शिक्षार्थी, शिक्षक का सम्बन्ध, प्रीति, स्नेह, डांट, दण्ड (अतिन्यून) पर आधारित होना चाहिए। पर सबसे बड़ी प्रेरकशक्ति है गुरु की आचरण शैली। यह सब छात्र की उम्र, परिपक्वता, दक्षता और चाह पर आधारित होना चाहिए।.....तभी मूल्यों की परम्परा बनी रहेगी। स्वतंत्रता प्राप्त कर लेने के बाद के साठ वर्षों के अनुभव के आधार पर एक बात बड़ी विनम्रता से कही जा सकती है कि शिक्षा अपने दोनों अंगों—शिक्षक व छात्र तथा परिवेश की दृष्टि से राष्ट्रलक्ष्य से जुड़ी होनी चाहिए पर राजनीति से पूरी तरह बचा कर रखी

जानी चाहिए।

जीवन और मानव तथा सामाजिक मूल्य पर विचार के समय, सितम्बर 2007 के अन्तिम सप्ताह में छः एशियाई देशों के शिक्षाविदों की भारत में हुई बैठक का उल्लेख आवश्यक है। इस बैठक में आई.आई.एम. अहमदाबाद, क्वालिटी एजुकेशन नई दिल्ली, क्वालिटी सर्विसेज, बंगलूर और सिंगापुर के शिक्षा संस्थान सम्मिलित थे। उनके कई निष्कर्षों में से एक यह था कि जैसे विज्ञान, बाजार, मजहब, जनसंख्या आदि कारण मानव जीवन के मूल्यों को प्रभावित करते हैं, वैसे ही भाषा से भी सम्बन्धित समूहों, समाजों के मूल्यों का सम्बन्ध होता है। मातृभाषायें अपनी संस्कृति की उपज होती हैं और मूल्य-व्यवस्था भी संस्कृति की देन है। इसलिए निज भाषा में व्यवहार करने, शिक्षा प्राप्त करने से मान्य मूल्यों की परम्परा प्राप्त होती है। वहीं, बाहर की सीखी हुई गैर संस्कृति की भाषा और उसके माध्यम से आने वाले तिरस्कृत व अपमूल्य, मूल्य-संघर्ष की परिस्थिति पैदा करते हैं। कई समाजशास्त्रीय निष्कर्ष बताते हैं कि भारत राष्ट्र के विविध भौगोलिक व सांस्कृतिक क्षेत्रों में, वर्गों में मूल्य-अपघटन, मूल्य-अनिश्चय, मूल्य-संघर्ष इसलिए बढ़ा और युद्ध का रूप ले रहा है कि अंग्रेजी भाषा के साथ बिना तराशी हुई अंग्रेजियत के मूल्य भी आ गये हैं, जो भारत की संस्कृति के लिए घातक हैं।

ऊपर कहे गये तर्कों से यह अर्थ नहीं निकाला जाना चाहिए कि हम भारतीय जीवन व मानवीय मूल्यों को अन्य आदर्शों एवं मूल्यों की हवा नहीं लगने देना चाहते। यह सम्भव भी नहीं है। जब विज्ञान और वैभव सारी दुनिया को एक में बटोर रहे हैं तो मूल्यों की एकान्त स्वतंत्रता सम्भव ही नहीं है। मूल्यों में संशोधन

एवं परिवर्द्धन मूल्यों के चिरजीवी होने के लिए आवश्यक हैं। यह भी पता है कि हर पुरानी चीज अच्छी ही नहीं होती, नई वस्तु हमेशा अविश्वसनीय नहीं होती। मूल्यों के साथ भी यही लागू होता है। किन्तु मूल्यों में नवीनता भरने की एक शर्त, एक दशा, एक तकनीक है। जैसे शिशु के बढ़ते बदन से हम नन्हे वस्त्र उतारते जाते हैं और नए वस्त्र पहनाते जाते हैं—यह ख्याल रखकर कि यह नया वस्त्र देह की मांग और शोभा के अनुरूप ही हो। ठीक इसी तरह समाज और संस्कृति की प्रगति के स्वरूप को जानकर हमें कई पुराने मूल्यों को परिष्कृत करना चाहिए या काल, स्थान, आवश्यकता के अनुरूप नए मूल्य स्वीकार करने में गुरेज नहीं करना चाहिए। बस, इस शर्त के साथ कि नए मूल्य नव समाज के लिए तो उपयोगी होंगे ही, पुरानों के लिए पीड़ा का सबब नहीं बनेंगे। ऊपर के पैराग्राफ में हमने मूल्यों की तलाश में आयोजित होने वाली शिक्षाविदों की एक बैठक का उल्लेख किया है। इस बैठक में यह भी तय किया गया कि पुरातन एवं नवीनतर मूल्यों को संरक्षण व परीक्षण के घेरे में लाकर समाज, समुदाय, जीवन, मानवीयता और अध्यात्म के लिए उपयोगी मूल्यों की खोज होनी चाहिए। उन्हें सिखाया जाना चाहिए, ताकि, श्रेष्ठों और वृद्धों के प्रति सम्मान पुनः जीवित हो सके। न्याय, अहिंसा, सत्य, स्वतंत्रता, क्षमता और राष्ट्र प्रेम को जीवन का सामान्य पथ बनाया जा सके। आर.के. मुखर्जी का मानना है कि सकारात्मक मूल्य प्रकृति, पर्यावरण और पारिस्थितिकी के प्रति जागरूक बनाते हैं। उपरोक्त छः राष्ट्रों की बैठक में जोर दिया गया कि ऐसे मूल्यों का प्रशिक्षण दिया जाना जरूरी है जो आदमी को प्रकृति का विजेता नहीं पूरक

इकाई बताये। उसे प्रकृति, पर्यावरण और पारिस्थितिकी के प्रति केवल जागरूक ही नहीं, उससे प्रेम करना सिखाये। बैठक ने मूल्यों की स्थापना की अनिवार्यता को देखते हुए यहां तक कहा कि मूल्य शिक्षा के प्रसार के लिए यदि नियमित पाठ्यक्रम में कटौती भी करनी पड़े तो उसे स्वीकार किया जाना चाहिए।

पर, कितने ही प्रस्ताव बना लिए जायें, उन्हें व्यवहार में उतारने का पथ बड़ा कठिन है। भीड़वाद (crowdism), स्वार्थ-समूह (Interest groups) और सम्प्रदायवाद, सामाजिक (आचार के वांछित) राजपथों पर स्टाप-पोस्टों की तरह खड़े हैं। भीड़ जो सबसे अस्थायी जन-हुजूम है, आदिम और मूल्य शून्य की आचरण की आकस्मिक इकाई है। यह किसी उत्तेजना की अतार्किक प्रेरणा से काम करती है। व्यवस्था भंग करना इसकी शैली है। यही भीड़ आज के भारत में सत्ता पाने, दबाव बनाने, फैसले करने की सबसे धारदार हथियार बन गई है। इसके हर विस्फोट में मूल्य ही मरते हैं। स्वार्थ समूह, भीड़ की तुलना में कम, पर मूल्यों के लिए ये भी खतरनाक हैं। साम्प्रदायिकता का उन्मादी प्रभाव खुला खेल है जो मूल्य और मनुष्य दोनों को मारते हैं। .....और आज हम, एक समाज और देश की तरह इनके त्रिभुज में कसे हैं। किसी कल की प्रतीक्षा में, जहां मौत या मूल्य में से किसी एक को चुनने की सम्भावना खड़ी है। अति जनसंख्या का उत्पाद है भीड़। परिणाम है युद्ध। जहां मानुष को तो कोई गिनता ही नहीं, मूल्य नाश की कौन करे परवाह। हम सन्दर्भवश अतिजनसंख्या, भीड़ और युद्ध के बीच सम्बन्ध बताने के लिए तीन क्लासिक युद्धों की चर्चा करेंगे। पुराणों के अनुसार जब गडवों के चरने भर भूमि भी न बची, चारों ओर बस्तियां

और भीड़ बढ़ गयी तो आदमी, कारण कोई बतायें, परिणाम में 'मैन हेटर' हो गया। देवासुर संग्राम हुआ। ऐसे ही राम-रावण युद्ध भी अतिजनसंख्या के जंगल में खो गये मूल्यों से उपजी निर्वातता के कारण हो गया। सीता, शान्ति के शाश्वत मूल्य का प्रतीक है। मूल्य-शून्य भीड़ के नायक दसमुख के द्वारा दसस्तरीय अपमान भोग रही सीता (मूल्य-व्यवस्था) को छुड़ाने के लिए किया गया युद्ध भारतीय साहित्य की एक प्रतीक गाथा है—लंका युद्ध। ठीक इसी तरह महाभारत का महासंग्राम भी भीड़ भरी अति जनसंख्या से उत्पन्न युद्ध है। कहा जाता है कि इस युद्ध में सिपाहियों और सरदारों की संख्या अठारह अक्षौहिणी थी। राजनीतिवाजों ने इन युद्धों की अपनी व्याख्यायें दीं, पर लोग जानने लगे हैं कि ये व्याख्यायें अपने कूट स्वभाव के कारण बहुधा अविश्वसनीय होती हैं। एक तथ्य और समझा जाना चाहिए, राजनीति और समाजनीति के स्वभाव के बारे में। समाज, जिन सूत्रों, सीढ़ियों से चढ़कर आगे बढ़ते हैं, उन सूत्रों, सीढ़ियों को वह उत्सव की तरह नई पीढ़ी को बता देता है, दे देता है। नई पीढ़ी के प्रति किए गए इस सूत्र-सीढ़ी दान के कारण सामाजिक या अन्य मूल्य पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होकर जीवित रहते हैं। राजनीति का स्वभाव उल्टा है। उसके योद्धा जिस सूत्र से, सीढ़ी से सफलता या ऊंचाई प्राप्त करते हैं, अपने पहुँचने के बाद हटा देते हैं। ताकि, कोई दूसरा उनका प्रयोग कर उस ऊंचाई तक पहुँच कर प्रतिस्पर्धा न पैदा करने पाये। परिणामतः "सूत्र, सीढ़ी, सफलता के मूल्य" अगली पीढ़ी को, जनता को नहीं मिल पाते। इसलिए भी राजनीति का खेल सदा से मूल्य हनन का खेल रहा है। राज्य और



राजनीति जितनी शक्तिशाली होती है, जनता उतनी कमजोर होती है। राज्य को रुचि होती है कि मूल्य हनन होता रहे ताकि उसे राज्यबल दिखाने के लिए मिलिट्री और सेना रखने का अवसर मिले। जनता आकाश की तरह उन्मुक्त न होकर राज्यबल की छाया में रहने को ही अपनी सुरक्षा मान ले। आज, मूल्यों की इस अकाल बेला में हमें इन तथ्यों को याद रखना चाहिए। ताकि, व्यक्ति के रूप में हम कुछ भी करने की अपनी सीमा जान सकें। मूल्य चिन्तन व स्थापन की सीमा भी। स्वर्ग का टिकट बांटने वाले ईसाई पादरियों की क्रूर कहानियां, या फिर कई मजहबों द्वारा अपनी बात मनवाने के लिए किए जाने वाले पाखंड व आतंक का विश्लेषण करें तो साफ होता है कि धर्म का स्वर्णिम लगने वाला सत्य जब मजहबी या महन्ती चोला पहन लेता है, तो वह राजनीति और बाजारवाद की तरह बनकर मूल्यशोषण में लग जाता है। राजमार्ग रोकते पूजा स्थलों की नित्य बढ़ती संख्या व फैशन परस्त मठों—मदरसों—धर्म परिवर्तन के स्थानों का अबाध विस्तार, मूल्य—चिन्तन के समय स्मृति में रखे जाने चाहिए। इस जिज्ञासा के साथ कि मानव और मूल्य व्यवस्था से कितना जुड़ा है इनका संसार। कितनी प्रच्छन्नता व दोमुहांपन है, इनके आचरण में।

तथ्य, तर्क और सन्दर्भ बहुत हैं लिखने को, पर कुछ अनछुये पक्षों को सामने लाना जरूरी है। एक जीव विज्ञान से और एक आत्मा विज्ञान से। मात्र इन पक्षों को सामने लाने के पीछे मेरा उद्देश्य यह बताना है कि कौन से वे सूक्ष्म कारण हैं, जिनके चलते, मूल्यों की एक ही व्यवस्था में; समान सामाजिक—राजनैतिक—आर्थिक दशा में; रहने वाले लोगों में से कई तो गांधी, विवेकानन्द, प्रह्लाद और मीरा जैसा

बनकर मूल्य—पुरुष बन जाते हैं। जबकि अनेक अंगुलिमाल और उससे भी बड़े हत्यारे हो जाते हैं। राष्ट्र और समाजद्रोह के अपमूल्य उनके जीवन का हिस्सा क्यों हो जाते हैं? इसके उत्तर में पहले जीव विज्ञान की एक अद्भुत पहेली पर विचार करिये। व्यक्ति के व्यक्तित्व निर्माण समायोजन—क्षमता, नीर—क्षीर विवेक और मूल्यों के प्रति आदर दृष्टि की समग्रता पर इसका बहुत प्रभाव पड़ता है। यह पहेली जन्म और देह पाने के प्रथम क्षण से जुड़ी है। पुरुष जब सन्तान की उत्पत्ति के लिए जिम्मेदार रति—क्रिया में स्त्री से संलग्न होता है तो लाखों की संख्या में वीर्य—जीव (semen) स्त्री के गर्भाशय में स्थित डिम्ब से मिलने के लिए पुरुष के अंग से निःसृत होते हैं। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि वे लाखों वीर्य जीव मां के गर्भ में स्थापित होकर सन्तान बनने के लिए जल्दी में होते हैं। किन्तु माता के गर्भ में किसी एक या दो ही (बहुधा एक ही) वीर्य—जीव को स्वीकार कर सन्तान बनाने की क्षमता होती है। वीर्य—जीवों द्वारा नारी गर्भ—नलिका में किये जाने वाले आचरणों से यह पता लगता है कि वीर्य—जीव उस सूक्ष्म स्थिति में भी जागरूक होते हैं कि मुझ लाखों में से किसी एक वीर्य—जीव का ही मां के गर्भ में स्वागत होगा। इसलिए सारे वीर्य—जीव एक महासंग्राम की भूमिका में आकर एक दूसरे वीर्य—जीवों से आगे निकलने की कोशिश करते हैं। इस कोशिश में उनकी प्रतिस्पर्धा इतनी बढ़ जाती है कि, वे एक दूसरे को मारते—खाते आगे बढ़ते हैं। अन्त में सर्वनाश के बाद बचा हुआ कोई एक वीर्य—जीव मां के भीतरी अंगों द्वारा स्वीकृत हो सन्तान बनता है। इस तरह हर तनधारी, मनुष्य के देहधारण की प्रथम घटना संघर्ष और आक्रमण तथा नाश और

गलाकाट प्रतियोगिता ही है।

इस जैविक घटना की एक मनोवैज्ञानिक स्थिति भी है। प्रसिद्ध मनः चिकित्सक फ्रायड ने अपने अनुभवों के आधार पर बताया है कि आदमी के मन (MIND) के तीन स्तर हैं। मन के जिस सर्व साधारण हिस्से से हम जगत में व्यवहार करते हैं वह है, चेतन मन। यह सांसारिक है। मन का दूसरा स्तर है अर्द्धचेतन (sub-conscious)। यह स्तर, चेतन मन और तीसरे स्तर "अवचेतन" के बीच का सेतु है। अवचेतन स्तर (unconscious) में हमारी अज्ञात स्मृतियाँ पड़ी रहती हैं। जीवन और देह निर्माण में प्रकृति की पहली भूमिका से लेकर चेतन मन या समाज को जो पसन्द नहीं हैं, वे सब दबाई हुई स्मृतियाँ इसी में संचित रहती हैं। खास तथ्य यह है कि ऐसी स्मृतियाँ चेतन स्तर को बिना बताये आदमी के व्यवहार, व्यक्तित्व और कृतित्व को भरपूर प्रभावित करती हैं। समाज, संस्कृति द्वारा बताये गये आदर्श और मूल्य जहाँ और जब भी कमजोर पड़ते हैं, अवचेतन में दबी स्मृतियाँ अपने अनुरूप व्यवहार कराने लगती हैं— सोच और कर्म दोनों के स्तर पर। मनोरोगचिकित्सकों का मानना है कि इन स्मृतियों के चलते जीन्स और शरीर संरचना में भी परिवर्तन हो जाता है।.....रतिकाल की प्रथम स्मृति 'संघर्ष, प्रतियोगिता और जैविक मूल्य हनन' प्रत्येक सन्तान के अवचेतन मन में धँसी हुई है। इसीलिए कहा जा सकता है कि, आदमी स्वभाव से ही प्रतिस्पर्द्धी, संघर्षक और मूल्य मारक होता है। सामाजिक सदस्य के रूप में, उसके व्यवहार में जो सकारात्मक और सहनशील सहजता के लक्षण दिखाई देते हैं, वह सब समाजीकरण, संस्कृतिकरण, शिक्षाकरण से बनते हैं। मूल्य अनुगामिता और उदारता इसी से आती है। आदिम स्तर पर संघर्षी स्वभाव

वाले आदमी को समाज के योग्य बनाने की प्रक्रिया सदा से चलाई जाती रही है पर बहुत कम लोग पूर्ण उदात्त और आदर्श सामाजिक सदस्य बन सके। उनके मूल विपरीत स्वभाव का प्रतिबिम्ब उभरता ही रहता है। इसीलिए सामाजिक असमानता, शोषण, क्रूरता का व्यवहार, ढेरों नियंत्रण के बाद भी दिखाई देता है। मूल्य विमर्श के दौरान इस तस्वीर को सामने रखना चाहिए। इस खोज से यह रहस्य तो समझ में आता है, कि दुनिया भर की मैथुनी संस्कृति के देहधारी अपने मूल (आदिम) स्तर पर संघर्ष प्रिय क्यों होते हैं। अहिंसा और आदर्शों के विरुद्ध जाना उन्हें क्यों आकर्षित करता है। पर दूसरा और अधिक मूल्यवान प्रश्न अभी अनुत्तरित ही रह गया है। वह है कि संघर्ष—स्मृति की इस अकाट्य धारा के रहते हुए भी कुछ लोग मूल्य संस्थापक, पालक, प्रेरक महामानव कैसे बन जाते हैं? विसंगति के अम्बार से घिरे होने के बावजूद उन्हें जीवन के पोषक मूल्य ही क्यों आकर्षित करते हैं? क्यों ऐसे लोग इतने विराट् और महान आकर्षण भरे हो जाते हैं कि कोई सीधा स्वार्थ न रहने पर भी, लोग उनके पीछे चलने को सौभाग्य मानते हैं।..... इसके उत्तर की खोज में भारतीय मनीषा को खंगालना पड़ेगा। विज्ञान इस खोज—खंगाल को बेमानी और तथ्य से परे कह सकता है, पर जिन्हें प्राणायाम, योग समाधि जैसी विधाओं में पारंगतता है, वे दावा करते हैं कि भारतीय मनीषा को मथे बिना मनुष्य के अस्तित्व के कई प्रश्न अनुत्तरित ही रह जायेंगे। जैसे किसी भी डाक्टर को अध्ययन और आपरेशन से देह का भौतिक सच तो पकड़ में, कई बार आ सकता है पर 'लाइफ' जिन्दगानी की छाया तक एक बार भी नहीं मिलती। उस डाक्टर को लगता है कि 'लाइफ' छुरी और



आपरेशन के पार है। उस 'पार' को आत्मा के विज्ञान से ही समझा जा सकता है। जैसे घर इसलिये बनता है कि उसमें कोई रहे, ठीक उसी तरह मानव देह का दुर्ग इसलिये प्रादुर्भूत हुआ है कि उसमें कोई विराटता बसे, जिससे देह धन्य हो जाय। और वह है आत्मा। यह आत्मा देह पाने और सांसारिक सामाजिक मनुष्य बनने तक की यात्रा में सात पड़ाव पार करती है। इन पड़ावों का यदि हम नामकरण करना चाहें तो उनके नाम कुछ इस तरह के होंगे—

प्रथम पड़ाव— आदि बिन्दु या स्रोत—यहीं से आत्मा का प्रथम संसार शुरू होता है, जैसे किरण से, टूटने पर अनन्त रंग पैदा होते हैं। आदि बिन्दु से आत्मा का निःसरण होता है।

द्वितीय पड़ाव— कारण शरीर—कर्म और/या इच्छाओं की प्रेरणा से जहां प्रकाश शरीर बनता है। (इच्छा—पुंज)। शरीर में आयाम नहीं, केवल चेतना।

तृतीय पड़ाव— सूक्ष्म शरीर—शरीर से कर्म करने की अभिलाषा के कारण आयामधारी बिन्दु शरीर का प्रथम निर्माण। आकाशतत्त्व में विचरण।

चतुर्थ पड़ाव— वीर्य-जीव— जिजीविषा का घनीभूत रूप—वीर्य रूप—बीज शरीर। पुरुष तन में निवास।

पाँचवाँ पड़ाव— मातृ गर्भारूप—मां के गर्भ में वीर्यरूप जिजीविषा ही देह के रूप में विस्तार करती है। आधाशरीर पिता के भीतर से और आधा मां के गर्भ में पलता, बनता, विकसित होता है। इसीलिए स्त्री अर्द्धांगिनी है।

छठाँ पड़ाव— संसार—मंच पर जन्म—यदि यहां छोड़ दिया जाय तो मनुष्य शिशु भी अशक्त जीव बन कर रह जाय।

सातवाँ पड़ाव— समाज की गोद— यहीं उसे नाम, मान, भाषा और समाज के तत्त्व मिलते हैं। प्रकृति के खिलौने शिशु को संस्कृति का सहारा

मिलता है।

इन पड़ावों के अपने परिवेश होते हैं। आदि स्रोत का परिवेश परम आनन्दमय। कारणशरीर का शान्तिमय। सूक्ष्म शरीर का सुख—दुख मय तथा वीर्य—जीव और मातृगर्भ के परिवेश पिता माता के स्वास्थ्य व चिन्तन के अनुरूप होते हैं। आत्मा, शरीरों में सीमित होते ही 'जीव' नाम प्राप्त करती है और कई 'स्वरूपभूत' इन्द्रियां या प्रकट इन्द्रियां विकसित कर लेता है। 'स्मृतिकोश' का भी विकास कर लेता है जीव। इस स्मृतिकोश के साथ कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर या भौतिक शरीर के अनुरूप मन का भी उदय होता है। सांसारिक शरीर में मन के तीन स्तर होते हैं—चेतन, अर्द्धचेतन और अवचेतन। फ्रायड के सन्दर्भ में इसका उल्लेख किया जा चुका है। कारण शरीर और सूक्ष्म शरीर के अस्तित्व में विश्वास करने वाली भारतीय विद्या, मन के एक और गहनतम स्तर का भी अस्तित्व मानती है। इस स्तर के मन का नाम 'अधिचेतन' मन है। इसमें 'आदि बिन्दु' का परमानन्द, 'कारण' शरीर का सुख तथा 'सूक्ष्म' शरीर के सुख—दुख के आवेश याद रहते हैं। संसार और समाज में कार्यरत मनुष्यों में कुछेक को अधिचेतन मन की यादें सूक्ष्म रूप से इतना अधिक प्रभावित करती हैं कि वे यादें अवचेतन, अर्द्धचेतन से होती हुई चेतन स्तर में आ उतरती हैं। अधिचेतन में समाई आनन्द, सुख और शान्ति की स्मृतियां इतनी गुरुत्वपूर्ण होती हैं कि अवचेतन, अर्द्धचेतन मन में समायी संघर्ष और घृणा आदि की यादों को पीछे छोड़ देती हैं। वे गिने चुने लोग, जो अधिचेतन की स्मृति से प्रभावित होते हैं (भले ही उन्हें बोध न हो) महामानव की तरह आचरण सेवी हो जाते हैं। चूंकि आनन्द, शान्ति और सुख, उच्चतम मूल्यों और आदर्शतम चेतना के



पुंज होते हैं इसलिए जिन्हें वे स्वभाववश याद रहते हैं, वे मूल्य-पुरुष और आदर्श मनुष्य हो जाते हैं। वे मूल्य पालक, आदर्श चिन्तक नेतृत्व देने में सक्षम होते हैं। विसंगतियों का जंगल जितना घना होगा, आदर्श के पथ पर वे उतने ही विश्वास और आस्था के साथ चलते हैं। महामानव होने का यही रहस्य है। कृष्ण कहते हैं कि जिनका योग और सत्य का व्रत किसी कारण से भ्रष्ट हो गया है और वे पुनर्जन्म पाते हैं तो उन की स्मृति ही उन्हें फिर से 'श्रीमत्' बना देती है। परिवेश और आचरण दोनों में ही उनकी दिव्यता झलकती है। मूल्यों में से त्याग, सत्य और प्रेम उनके लिए प्रिय होते हैं।..... आधुनिक भौतिक विज्ञानियों के लिए 'पुनर्जन्म' अभी मान्य नहीं है, पर भारतीय विद्याओं के सारे निष्कर्ष इस अवधारणा की स्वीकृति के बिना अधूरे हैं।

\* \* \* \* \*

हम जिस संसार में, और समाज में जैसे भी आये हैं और रहने के लिए घेरे गये हैं, वह तो वैसा ही है—जैसा है। इसी में हमें मूल्य की जागरूकता पैदा करनी है, इनका पालन करना और दूसरों को प्रेरित कर सामाजिक मनुष्य के रूप में अपनी भूमिका का निर्वाह करना है। ऐसे में क्या करें? कैसे करें? तो कुछ चीजें पहले स्पष्ट कर लें। जैसे, जिन बाह्य नियमों, नीतियों तरीकों का पालन हम अनुकरण या दबाव और दण्ड भय से अथवा दुर्घटना होने के डर से करते हैं, वे मूल्य नहीं हैं। मूल्य, जैसे इमाइल दुर्खीम कहते हैं— कलेक्टिव स्वीकृति का प्रतिनिधि या रिप्रजेन्टेटिव है। जब यह अन्तःकरण का स्वाभाविक हिस्सा बन कर बिना किसी दबाव या प्रेरणा के ही व्यवहार में दिखाई देने लगे तो समझो कि हम जो कर रहे हैं वह मूल्य है।

और अब तक के तीन महान मूल्यों में से स्वयं "समाज" ही सबसे बड़ा मूल्य है। जब किसी व्यक्ति या समूह में अन्तःकरण के तल पर यह सोच और व्यवहार आ जाये कि उसे समाज में रहकर, समाज के अनुरूप, उसकी संगतियों—विसंगतियों को स्वीकारते, संभालते और परिष्कृत करते हुए जीना है तो—मानो वह सबसे बड़े जीवन मूल्य का पालन कर रहा होता है। आज इस विराट मूल्य का अपघटन हो गया है। एकान्त, परकीकरण (Alienation), अपरिचय, तिरस्कार, अपने प्रति श्रेष्ठता बोध, और दूसरे के हिस्से के प्रति उदासीनता, इसके लक्षण हैं। इससे उबरने का एक तरीका है। नई पीढ़ी को समाज की देख रेख में प्रति दिन कुछ समय के लिए यूँ ही छोड़ देना। विशेषीकरण के इस युग में हमने समाज की अनेक जिम्मेदारियों को छीन कर संस्थाओं को (वह भी बाजारवादी संस्थाओं को) दे दिया है। प्रारंभिक शिक्षा की जिम्मेदारी उनमें से एक है। परिवार और समाज सूचनाओं से अधिक सम्बन्धों, प्रकृति के प्रति पूरकता, प्रेम, अनुशासन सिखाने वाले जीवंत तंत्र हैं। निष्ठावर करने की जो सीख परिवार से मिलती है— उसी के चलते 'परिवार' महान है। लोगों ने इसे छीन कर लक-दक करते स्कूलों को दे दिया जहां ड्रेस कोड, थोपा हुआ आचरण और भाषा का अनुशासन किसी शिशु और छात्र को बहसी और वहमी पाठ्यक्रम में दिमाग की सीमा तक डुबोकर रख देता है। फिर उन संस्थाओं की गैर प्राकृतिक चारदीवारी से शुरू होकर बन्द बस में कैद हो जाने वाला कोमल चित्त शिशु समाज का अर्थ ही नहीं जानता। ये संस्थायें न जाने कैसे ऐसा वातावरण बना देती हैं कि बच्चे यह मान बैठते हैं कि पैसे से ज्ञान तथा जान दोनों खरीदे जा सकते हैं।

इस पर रोक लगनी चाहिए। कम से कम छः वर्ष की उम्र तक। इस उम्र को 'पैकेज' पाने वाले टीचरों के 'हवाले' करने से बचते हुए समाज में वृद्ध हो गये स्वस्थ जिम्मेदारों से जोड़ना चाहिए। वे क्या सिखायेंगे, उन्हें हमसे अधिक पता है। जिस समाज में बूढ़े और बच्चे मिलकर मुस्कुराते हैं वहां जीवन की बरसात होती है और जीवन के दूसरे महामूल्य 'विश्वासभरा आनन्द' के झरने झरते हैं। ज्ञान का पहला विहान यहीं होता है। सामान्य शिक्षण केन्द्र तो सूचनायें बाँटते हैं।

दूसरा मूल्य है, खुद का निर्माण। समाज रूपी खेत से उपजे फूल की तरह। अपने आपको जानने से भी बड़ा है— अपने और संसार का सामान्य ज्ञान प्राप्त करके "स्वयं की सहायता करना" दूसरों से अधिक आशा करना छोड़ के। अपना स्वयं का निर्माण, स्वयं से करना नया जन्म पाने की तरह है। ज्ञान प्राप्ति करना पुनर्जीवन है पर कोरी बौद्धिकता जुटाने से बचना चाहिए।

तीसरा श्रेष्ठ मूल्य है, आध्यात्मिक होना। स्वस्थ—(स्व में स्थापित—निन्दा और परमुखता से बचाव), सौन्दर्य खोजी चिन्तन, शारीरिक श्रम को सम्मान, प्रकृति संरक्षण और मनुष्य जाति की सर्वक्षमता में इस दृष्टि से विश्वास कि सभी उच्चतम लक्ष्यों की खोज के लिए पैदा हुए हैं। यह तरीका परमात्मा में विश्वास पैदा करता है।

आगे हम 'प्रेम', श्रद्धा, भय, सत्य और भ्रम जैसे जीवन मूल्यों की चर्चा करेंगे। समाज रूपी मूल्य से दरक गए सम्बन्धों के चलते 'शब्द, अर्थ और मूल्य' तीनों स्तर पर इनका प्राण खो गया है। प्रेम को ही लें। इसके ढाई अक्षर गहरे प्रतीक हैं। इसका आखिरी अक्षर 'म' उस अस्तित्व के लिये है जिसे प्रेम करने का

पात्र माना गया है। प्रेम करने वाला इसे अपनी तुलना में पूरा मानता है। 'रे' दूसरा पूरा अक्षर है यह उस जागृति, समर्पण और क्रिया का द्योतक है, जो प्रेम—पात्र और प्रेम करने वाले के बीच घटती है। 'प' ही इसमें आधा अक्षर है। जो प्रेम करता है वह हमेशा अपने को आधा ही मानता है। सच्चे प्रेमी को— चाहे भक्त—भगवान का प्रेम हो, आशिक—माशूक का हो, मां—बेटे के बीच का हो— लगता है कि, आह, मैं उतना नहीं कर सका अपने प्रेम और प्रेमी के लिए। अधूरापन ही उसमें तड़प पैदा करता है कि 'और कुछ' फिर 'सब कुछ' कर दो या दे दो उसे, जिसे तुम प्रेम करते हो। जिस दिन प्रेम करने वाला अपने को पूरा मान लेगा, प्रेम ठहर जाएगा। उसका अन्त हो जाएगा। मनुष्य की दुनिया में कोई माँ या पिता (अपवादों या विकृतियों को छोड़कर) ऐसा ही प्रेम करते हैं। सन्तान के लिए अपनी सीमा में उपलब्ध सब कुछ देने की कसक लिए।..... फिर ऐसा क्यों है कि माता—पिता, बन्धुओं के प्रेम में नहायी सन्तानें बड़ी होने पर, बूढ़े हो गये अपने उन्हीं प्रेम करने वाले स्वजनों का तिरस्कार करने लगती हैं? क्यों है ऐसा? विज्ञान कहता है बिना कारण के कुछ नहीं होता। तो? कारण है— प्रेम का स्वभाव। पानी और प्रेम दोनों नीचे या आगे बहते हैं। शिखर से नीचे और आगे ही बहता है पानी। कोई धारा अपने पिता—शिखर की ओर मुड़कर नहीं देखती। उसका प्यार सागर के लिए उतना ही सघन होता है, जितना शिखर का प्यार अपनी नन्हीं धारा के लिए था। ठीक यही सिद्धान्त है प्रेम के बहाव का भी। माता—पिता, स्वजनों से प्रेम पाई सन्तानों में प्रेम की कमी नहीं होती। उनका वैसा ही प्रेम आगे की पीढ़ी—बीबी, सन्तानों की ओर बढ़ जाता है। चूंकि 'प्रेम' वन वे ट्रैफिक है, इसीलिए वह



सन्तान से चलकर वृद्ध स्वजनों की ओर नहीं जाती। ऐसे में वे उपेक्षित हो जाते हैं। इसीलिए, प्रेम के स्वभाव को समझते हुए मानना चाहिए कि वृद्ध हो गये स्वजनों की जरूरत 'प्रेम' नहीं श्रद्धा है। प्रेम की प्रेरणा है देना। बिना स्वार्थ के देते जाओ ताकि प्रेम की वासना सन्तुष्ट हो। वही श्रद्धा का आधार है पाना। श्रद्धा उसी के प्रति होती है जिससे, वास्तव में या काल्पनिक स्तर पर, कुछ मिलने की गुंजाइश होती है। भगवान के प्रति की गयी श्रद्धा या माता-पिता-वृद्धजनों के प्रति की गई श्रद्धा के पीछे सिद्धान्त एक ही है। भगवान दुःखहरण में या स्वर्ग-मोक्षादि के पाने में मदद दे सकता है। माता-पिता ने हमें जीवन, साधन, नाम और पहचान दी-इस प्राप्ति की याद या भविष्य में भी कुछ भौतिक या अभौतिक देंगे- इसकी आशा जब तक रहेगी, तब तक श्रद्धा देने का कर्मोपदेश क्रम बना रहेगा। श्रवण कुमार जैसी अहैतुकी श्रद्धा बताती है कि श्रद्धा करने वाला 'मूल्य-पुरुष' या महामानव है। महामानव होने की व्याख्या पहले ही की जा चुकी है। बाजारवाद ने एक नई परिस्थिति पैदा कर दी है। छोटे परिवार और दूर बसे घर तथा बहुत बड़ी आय का व्यस्त युग आ गया है। सन्तानें तुलना करने लगी हैं। कहां से अधिक मिलेगा। बाजार, कार्यालय या टेक्नोलाजी के प्रयोग से अथवा बचत करने से। वृद्धजनों से प्राप्त होने वाली सम्भावना और बाजार-कार्यालय से प्राप्त होने वाली सम्भावनाओं में जितना अधिक फर्क होगा, श्रद्धा उतनी कम या अधिक होगी। अधिक आय वाले इस युग में वृद्धों के प्रति घटती श्रद्धा का एक मूल कारण यही है। हालांकि, रोज-रोज की संतानों-वृद्धों की अतिनिकटता और साधनों का अभाव भी श्रद्धा में कमी आने का कारण है।

'अतिनिकटता अवज्ञा दोषः'।

श्रद्धा में निरञ्जर आ रही द्विविधा से वृद्धजनों एवं समाज को हो रहे नुकसान से कैसे बचाया जाय? यह विचारणीय प्रश्न है। भारतीय विचारकों और आर्ष चिन्तकों ने एक अद्भुत बात कही है। उनका कहना है कि काल, स्थान और समस्या के सन्दर्भ में बोले गये कई झूठ, बनाये गये मिथक या कई भ्रम, न केवल उपयोगी होते हैं वरन् सत्य की स्थापना में बहुत अधिक सहायक होते हैं। भारतीय विचारकों की ही तरह विलफर्डो पैरेटो ने भी तर्कतर तथ्यों, परम्पराओं और कार्यों को समाज को चलाने, नियंत्रण करने में सहायक माना है। इतना ही नहीं, उसने कई बार तो इन अतर्क्य विचारों, व्यवहारों को विज्ञान द्वारा घोषित तर्क पूर्ण तथ्यों से भी अधिक उपयोगी कहा है। भारतीय सामाजिक इंजीनियरों ने तो इस तरह का प्रयोग भी किया है। श्रद्धा, सम्मान, विश्वास, वृद्धजनों के प्रति पूज्य भाव जैसे अनेक पक्षों पर इसे आजमाया है। वैज्ञानिक और तर्कवादी जिसे अन्धविश्वास कहते हैं- ऐसे पितरों, देवों, श्राद्ध कर्मों की संकल्पनायें प्रस्तुत कीं। कई आप्त वाक्यों की तरह घोषणायें बनाई- जैसे- 'तू वृद्धों की सेवा करेगा, तो तुझे स्वर्ग और सन्तानों से सेवा प्राप्त होगी। अथवा, 'सत्य के लिए, मूल्यों एवं आदर्शों की रक्षा के लिए बिना पीठ दिखाये, राष्ट्र के नाम पर युद्ध में मर जायेगा तो तुझे मोक्ष मिलेगा' जैसे अतर्क्य नारों की रचना की। कोई नहीं जानता कि ये घोषणायें किस सत्य पर खड़ी हैं; या कितनी झूठ हैं-तो भी हमने आपने देखा है कि इनसे सामाजिक व्यवहार, संगठन, आदर्शों और मूल्यों की व्यवस्था में बहुत सहयोग मिला है। वृद्धों के प्रति, राष्ट्र पर निछावर होने के प्रति इन घोषणाओं ने पीढ़ियों



तक प्रेरणा दी है। मेरा मानना है कि इन प्रचलित नारों को, घोषणाओं को, सावधानी के साथ पुनः जीवित किए जाने की जरूरत है ताकि वृद्धस्वजनों के प्रति, राष्ट्रभक्ति और मानवता तथा न्याय के प्रति भय मिश्रित श्रद्धा पैदा हो सके। इन घोषणाओं के पीछे कितना सत्य है, इस खोज के आग्रह में समय नहीं बिताना चाहिए। याद रखें, सत्य श्रेष्ठतम खोज है, पर यह जीवन जीने की 'एक मात्र' कुंजी नहीं है। प्रकाश के साथ अंधेरे का भी अस्तित्व है। जैसे प्रकाश अंधेरे को नियंत्रित रखता है, वैसे ही सत्य-मिथ्या प्रतीति के अतिवाद से उत्पन्न कार्य व सोच विधि को रास्ते पर बनाये रखने की बाड़ है। मिथ्या प्रतीति जीवन दे सके, तो उसे स्वीकार करें। जब दर्शन और विज्ञान दोनों की दृष्टि में जगत एक मिथ्या जेस्टाल्ट है। भ्रमों का मोहक संगठन। तो, हमारे व्यवहार का आधार 'सत्य' ही हो, सम्भव नहीं। आज के विज्ञान द्वारा तर्क और सत्य के नाम पर सामाजिक मान्यताओं को झुठलाया जा रहा है—इसलिए भी मूल्यों का नाश हो रहा है। एक कठोर नियति को स्वीकार करना पड़ेगा। सत्य का व्यक्तित्व घाट पर बिकते किसी हरिश्चन्द्र या एक वस्त्र में लिपटी हुई गांधी की आकृति जैसा हो सकता है, किन्तु एक समग्र मूल्य पोषी व्यक्तित्व सत्य के अन्ध आग्रह से दूर होकर सूरज जैसा होगा जो प्रकाश के सत्य रूपी चकमक पक्ष को उतना ही स्वीकारता है, जितना अंधेरे के द्वारा किए गए लोकोपकार को।

“भय बिनु होई न प्रीति” जैसे आप्त वाक्य की रचना करके गोस्वामी तुलसीदास ने यह बताने की कोशिश की है कि समाज, समूह और व्यक्ति तथा व्यवस्था से मानक के अनुरूप व्यवहार प्राप्त करने के लिए ‘भय’ एक भारी मूल्य है। भय, आकस्मिकता और अनजाने

उपादान या प्रस्तुति का नहीं वरन् नियमों, नीतियों और गुणज्ञ, विवेकवान समाज-राज्य के प्रतिनिधि का। भय, प्रेम का दूसरा पहलू और न्याय का पूरक है। भय का मूल्य जितनी बार उपेक्षित होता है विसंगति, विघटन और भीतरी बाहरी आतंक बढ़ता है। स्वार्थ, भय और दबाव के चलते ही भय के मूल्यों का उपयोग नहीं होता। समाज न केवल मूल्यों का संगठन या सम्बन्धों का जाल है, वरन् यह भय का कारक भी है। हमने देखा है कि अपने देश की पुलिस आतंकियों और घोर अपराधियों को पकड़ कर उनके चेहरों पर नकाब लगाकर ले जाती है। ऐसा करने से सामाजिक भय और लज्जा का कोई असर नहीं होता अपराधी पर। क्योंकि समाज की आंखें उसे देखकर धिक्कार नहीं पातीं। मैंने, समाजशास्त्र के विद्यार्थी के नाते अनेक छोटे बड़े अपराधियों से बात-चीत की है। उनका मानना है कि मृत्युदण्ड से भी अधिक भय लगता है सामाजिक तिरस्कार के फैसले से। सामाजिक तिरस्कार के भय को यदि राज्य व्यवस्था भी विवेक के आधार पर स्वार्थहीन होकर मान्यता दे दे, तो मूल्य-रक्षण का बहुत बड़ा उद्देश्य सफल हो जाय।

शिक्षा के क्षेत्र में भय और दण्ड की सार्थक भूमिका है। मृत्यु दण्ड और देश निकाला को किनारे कर दें तो दण्ड एवं भय की तीन और श्रेणियां हैं—(1) स्वजनों, समजनों के बीच प्रतिष्ठा हनन के दण्ड का भय (2) शरीरदण्ड का भय (3) अर्थदण्ड का भय। बाल छात्र (जिनकी उम्र सोलह वर्ष तक हो सकती है) की गैर शैक्षकीय आवारगी, अपरिपक्वता और बार-बार ध्यान च्युति के मनबढ़ेपन के लिए कुछ दण्डों की व्यवस्था को सकारात्मक सहयोग के रूप में देखा जाना चाहिए। ऐसे छात्रों के लिए मात्र

और केवल मात्र आंशिक अहं हनन या अति सामान्य शरीर दण्ड ही काफी है। अर्थ दण्ड पूरी तरह निषिद्ध होना चाहिए क्योंकि यह छात्र के परिवार को दण्डित करता है और छात्र में धनवान होने की गलतफहमी पैदा करता है। बस, दण्ड की एक ही शर्त है कि दण्ड देने वाले अध्यापक की छवि स्नेह करने वाले शिक्षक की छवि हो। स्वार्थी प्रतिक्रिया में दिया गया दण्ड, उद्दण्ड ही बनाता है।..... इसी स्तर पर शारीरिक-मानसिक स्वास्थ्य के अनुभूत उपायों का प्रयोग कर स्वास्थ्य के मूल्यों के प्रति जागृत करना चाहिए। एक स्वस्थ राष्ट्र, स्वस्थ समाज का स्पन्दन यहीं से आकार लेता है। सम्पत्ति, पद, भूमिका, उत्तरदायित्व, प्रेम, न्याय, पर्यावरण, पारिस्थितिकी, सत्य, सौंदर्य, सुसंगति और पवित्रता का संबोध इस स्तर पर यदि कराया जाय तो एक मूल्यवान समाज का बनना निश्चित है। इन मूल्यों को सीखने समझने का यही सर्वोत्तम समय है। बाल-छात्र जीवन-समाज की छाया में।

\* \* \* \* \*

मानवता की राह में दो ही तो प्रयोगशालायें हैं। पहली प्रयोगशाला है परिवार। यहां सम्भावनायें अज्ञात से उतरती हैं और हम तन पाकर बनते हैं। दूसरी प्रयोगशाला है-समस्याओं दर समस्याओं की बहुलता की। इसको झेलकर, भोगकर, तोड़ और जोड़कर हम बनाते हैं एक संसार-जो सच से बुना हुआ और सपनों से सजाया हुआ होता है। यहां जो प्रश्न-मूल्यों से जुड़े भी-उठते हैं। उसका उत्तर हममें से कुछेक ही ढूंढ़ सकते हैं। बाकी नारा लगाकर चुप हो जाते हैं। जो ढूंढ़ सकते हैं, उनकी पहचान यह है कि वे उन प्रश्नों के बीच आत्म प्रयोग करते रहते हैं। जैसे गांधी ने सत्य के साथ, मालवीय ने शिक्षा के साथ, राम ने वनवास के साथ और बुद्ध ने

अहिंसा के साथ तथा ईसा ने खुद के द्वारा ढोये गए क्रॉस के साथ किया। यह प्रयोग, यह है कि मानव मूल्य, जीवन मूल्य व सामाजिक-आध्यात्मिक मूल्य किस तरह शक्ति का प्रतीक बन सकें। दुनिया की चलन है कि वह शक्ति को पूजती है। जो मूल्य अपने पालनहार को इतना विनम्र और कोमल बना दे कि वह कायर, पत्थर या प्रतिक्रिया न करने वाले जैसा दिखाई देने लगे तो वे मूल्य त्याग दिए जाते हैं और वह भगवान भी हो तो भी उसे निर्बीज कह कर छोड़ दिया जाता है। इसलिए मूल्यों की न केवल खोज करनी या उन्हें स्थापित करना है वरन् उनको इस तरह शक्तिशाली बनाना है कि लोग उनकी ओर आकर्षित होने लगें। उन मूल्यों की शक्ति का अनुभव कर सकें।

परिवार, शिक्षा, वृद्धजन, धर्म और स्वयं समाज के सदस्य के रूप में व्यक्ति-व्यक्ति को जागरूक होकर कार्य करना पड़ेगा-इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए। मूल्य अनुशीलन केन्द्र की स्थापना करके काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने न केवल अपनी भूमिका, वरन् अपना उत्तरदायित्व भी बढ़ा लिया है। अलग-अलग कई विचारक कुछ कार्य करें या कुछ गोष्ठियों में सीमित चर्चायें हों- यह तो ठीक ही है। परन्तु इतिहास, वर्तमान और भविष्य की सम्भावनाओं का आकलन कर मूल्यों की एक वृहद् सूची बनाई जाने की जरूरत है। फिर एक राष्ट्र व्यापी सर्वेक्षण और जनमत आयोजित किया जाना चाहिए कि किस वर्ग, किस सांस्कृतिक समूह के लोग, बनाई गई मूल्य सूची में और क्या जोड़ना घटाना चाहते हैं। लोग, किन मूल्यों को कितना आवश्यक समझते हैं और उनके पालन के लिए किस प्रतिबद्धता की कैसी आशा करते हैं। ऐसा करने से मूल्य व्यवस्था की नवल

रचना करने में सहायता मिलेगी। यह कार्य मूल्यों के प्रति, एक तरह से, पुनर्जागरण का हममें से वे, जो मूल्य विसंगति (Value Anomie) के चलते उपेक्षित या कमजोर हो रहे हैं, अथवा वे जो नायकत्व के अन्तः गुणों के कारण मूल्य विसंगति को लेकर चिन्तित हैं, कार्य होगा। वैसे तो मूल्यों को तोड़ने वाली स्थितियाँ, उपेक्षित करने वाले लोग और मूल्य तिरस्कार का दंश भोग रही पीढ़ियाँ, सभी को मूल्य हनन से उत्पन्न खालीपन का बोध होने लगा है। इसलिए लगता है, सभी इसका उपचार चाह रहे हैं—

**सब दीये जलने को हैं तैयार अब  
यह जो आंधी है, रुके तो लौ जले।।**

कौन है वह आंधी जिससे चेतना के दीए डरे हुए हैं। लौ खामोश है? तेजी से परिवर्तित हो रहा वक्त ही आंधी है। पर, इस आंधी के दो वर्तुल बवण्डर ज्यादा भयानक हैं। समाज के पीठ—पेट पर अनियंत्रित होकर बढ़ रही भीड़ भरी जनसंख्या पहला बवण्डर है। यह सोचने के समय और जीने के लिए जरूरी स्थान को लील रही है। आदमियत, आदर्श और मूल्य इसकी दौड़ में मसलकर धूल हुए जा रहे हैं। दूसरा बवण्डर है राज्य सत्ता का आधुनिक चरित्र। महाभारत ग्रन्थ का यह निष्कर्ष कि “राज्य धर्मे सर्वेधर्माः निमग्नाः” आज पहले से अधिक सही हो गया है। अननुशासन, अनाचरण और अन्याय से मुंह फेर लेने वाली वर्तमान राज्य सत्ता के संचालक और पोषक मूल्य विहीन उत्तेजना की प्रतिमूर्ति बन कर, समाज के लिए जरूरी मूल्यों को निरर्थक कर रहे हैं। जनता और न्यायालय—दोनों देख रहे हैं।.....इन दोनों बवण्डरों पर अंकुश लगे तो मूल्य खुद ही अपनी खोज कर लेंगे—जैसे बाढ़

के उतर जाने पर हरीतिमा खुद जीवित हो जाती है। विश्वास है, आशा का मूल्य कभी नहीं मरेगा। अथवा वे जो समाज के सदस्य के रूप में अपनी भूमिका के प्रति जागरूक हैं, और वे सब, जिन्हें अनुभवों ने बता दिया है कि मूल्यों की अफरा—तफरी में पागलपन और पशुता पैदा होती है—उनको विनम्र आक्रामकता के साथ यह तय करना है कि खुद के किन आचरणों से मूल्य संस्थापना का संग्राम शुरू किया जाय—कैसी हो दृष्टि (विजन), क्या हो रणनीति (स्ट्रैटेजी), प्रेरणा कैसे पैदा हो और श्रेय किसे दें ताकि मूल्य की सार्थक सरिता फिर से बहे व सर्वजन की प्यास बुझा सके। •

**भगवान श्री कृष्ण ने कहा—**

*उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।  
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥*

अर्थात् “अपना उद्धार अपने आप करें, अपने को नीचे न गिरावें, मनुष्य स्वयं ही अपना मित्र भी है और अपना शत्रु भी है”

—इस वाक्य के अनुसार हम लोगों की आजकल जो अधोगति हुई है। वह हमारे ही दोषों और पापों से हुई है और हमारी उन्नति तभी होगी, जब हम अपने उद्धार के लिए स्वयं यत्न करेंगे।

**—पं० मदनमोहन मालवीय जी**



# आधुनिकीकरण एवं मूल्य बिखराव

राकेश कुमार मित्तल

आज समाज में गिरते मूल्यों को लेकर सभी चिन्तित हैं और इसके समाधान का प्रयास कर रहे हैं। 'आधुनिकीकरण एवं मूल्य बिखराव', इस विषय में 'आधुनिकीकरण' शब्द का समावेश स्वयं में महत्वपूर्ण है। इसका अर्थ यह निकलता है कि मूल्यों के बिखराव का मुख्य कारण आधुनिकीकरण है। एक तरह से यह निष्कर्ष एक भ्रामक संदेश भी देता है और हमें दुविधा में डालता है। आधुनिकीकरण आज जीवन की वास्तविकता है और कदाचित् इसे रोकना संभव नहीं है और मेरे विचार में यह आवश्यक भी नहीं है। फिर भी यह कहना बहुत सीमा तक सत्य है कि आधुनिकीकरण से मूल्यों का बिखराव हो रहा है। इस प्रकार पूरा विषय विश्लेषण माँगता है और यही करना इस लेख का उद्देश्य है। इस लेख में मैं यही करने का प्रयास करूँगा।

विकास प्रकृति की एक सतत प्रक्रिया है और इसी प्रक्रिया को हम 'आधुनिकीकरण' कह रहे हैं। फिर भी इन दो शब्दों में विरोधाभास प्रतीत होता है। 'विकास' एक प्राकृतिक प्रक्रिया होती है जबकि 'आधुनिकीकरण' अप्राकृतिक। कदाचित् इन दोनों में दिशा एवं गति का अंतर है जिसके कारण कठिनाई उत्पन्न हो रही है। प्राकृतिक विकास सदैव व्यापक हित में होता है और इससे समाज में वैमनस्य उत्पन्न नहीं होता, जबकि आधुनिकीकरण में एक प्रकार की होड़ का आभास मिलता है। सत्य है कि होड़ व्यापक हित में नहीं हो सकती और इसका लाभ कुछ ही लोगों को मिलता है और वह भी अल्पकाल के लिए। 'विकास' की गति भी प्राकृतिक होनी चाहिए ताकि वह हमारे आंतरिक व्यक्तित्व में स्वाभाविक रूप से समा सके। डार्विन का उद्भव सिद्धान्त इसी प्रकार के विकास की बात

करता है। श्री अरविन्द ने भी महामानव बनने की संभावना इसी दृष्टिकोण से व्यक्त की थी। इस प्रकार के विकास को समाने की शक्ति प्रकृति ने हमें दी है और उससे हममें दुविधा उत्पन्न नहीं होती। इसी विकास की गति जब अप्राकृतिक हो जाती है तो समस्याएँ उत्पन्न होने लगती हैं। विकास की ऐसी दौड़ में सबकी सहभागिता नहीं हो पाती और लोग येन-केन-प्रकारेण आगे रहना चाहते हैं। मूल्यों के बिखराव का यही मुख्य कारण है।

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विज्ञान व तकनीक का अत्यन्त द्रुत गति से विकास हुआ है। कहा जाता है कि इन पचास वर्षों में इस क्षेत्र में जितनी प्रगति हुई है उतनी पिछले दो हजार वर्षों में भी नहीं हुई। इस प्रगति के फलस्वरूप जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मनुष्य ने इतनी उपलब्धियाँ प्राप्त कर ली हैं कि उसे लगने लगा कि उसने जीवन की प्रत्येक समस्या का समाधान खोज लिया है। इस मद में उसने प्रकृति के साथ खिलवाड़ भी प्रारम्भ कर दिया और वह प्राकृतिक साधनों के अंधाधुंध दोहन को ही विकास मानने लगा। कुछ समय तक तो प्रकृति इसे वहन कर सकी किन्तु शीघ्र ही इसके दुष्परिणाम सामने आने लगे। आज शुद्ध पर्यावरण, शुद्ध जल, बदलते मौसम और ऐसी अनेक समस्याएँ भयावह रूप ले चुकी हैं और भविष्य इससे भी विकराल दिखने लगा है। भारतीय संस्कृति के अनुसार विश्व को एक परिवार बनाने की कल्पना तो दूर एक परिवार संगठित रखना भी कल्पना बन रहा है। विकास की इस अंधी दौड़ में सब एक-दूसरे से आगे बढ़ने का प्रयास कर रहे हैं और यह समझे बिना कि वे ऐसा क्यों कर रहे हैं। शायद इसी कारण यह कहा गया है कि विज्ञान की पचास

वर्षों की कमाई के पीछे हमने संस्कृति की हजारों वर्षों की कमाई को खो दिया। मेरे विचार से व्यापार की दृष्टि से भी यह घाटे का सौदा है।

मानव प्रकृति की सबसे महत्वपूर्ण कृति है। उसे 'विचार' व 'विवेक' दोनों शक्तियाँ उपलब्ध हैं। इन्हीं दो शक्तियों के कारण उसने संस्कृति व विज्ञान दोनों को विकसित किया है। दुर्भाग्य यह है कि आज इन दो शस्त्रों का उपयोग उसने अपने 'विकास' के स्थान पर 'विनाश' के लिए करना प्रारंभ कर दिया है। इसका आभास उसे होने लगा है और जिनको इसका आभास हुआ है उन्हें समाधान की चिन्ता भी होने लगी है। यह चिन्ता विश्व स्तर पर है और इक्कीसवीं शताब्दी का प्रारंभ इसी चिन्ता के साथ हुआ है। विश्व धार्मिक नेता दलाई लामा ने 1 जनवरी, 2000 को सारनाथ के प्रांगण से विश्व को दिये अपने संदेश में यह चिन्ता व्यक्त करते हुए 'आध्यात्मिक क्रांति' की बात कही थी। उनका कहना था कि मात्र आर्थिक, वैज्ञानिक, सामाजिक अथवा राजनैतिक क्रांति से मानव कल्याण संभव नहीं है। इनसे मानव की बाह्य आवश्यकताएँ तो पूरी हो सकती हैं किन्तु आंतरिक आवश्यकताएँ पूरी नहीं होतीं। इसी कारण बाह्य प्रगति से वह असंतुलित हो जाता है और सम्पन्न दीखता हुआ भी अप्रसन्न रहता है। उनका यह भी कहना था कि 'आध्यात्मिक क्रांति' सम्पूर्ण क्रांति है और उसमें मनुष्य का बाह्य विकास भी निहित है। श्री दलाई लामा के इस संदेश का विश्व भर में स्वागत हुआ और उसी वर्ष अगस्त 2000 में संयुक्त राष्ट्र संघ के सहयोग से एक 'विश्व शांति सम्मेलन' न्यूयार्क में आयोजित किया गया। इस सम्मेलन में पूरे विश्व के महत्वपूर्ण धार्मिक व आध्यात्मिक प्रतिनिधियों ने

भाग लिया। मुझे भी इसमें भाग लेने का सौभाग्य मिला था। इस सम्मेलन में मुझे आभास हुआ कि पूरे विश्व के मानवों की मूल समस्याएँ अथवा आवश्यकताएँ समान हैं। वे प्रसन्नता, सहयोग, प्यार, सद्भाव, करुणा, क्षमा आदि चाहते हैं और यदि तथाकथित विकास यह नहीं देता है तो ऐसा विकास उन्हें स्वीकार्य नहीं है। मेरा मानना है कि यही तथ्य आशा की किरण है।

समस्या के समाधान के लिए हमें उन्हीं दो शस्त्रों का उपयोग करना होगा जो प्रत्येक मानव को सहज रूप से उपलब्ध हैं और ये हैं 'विचार शक्ति' एवं 'विवेक शक्ति'। इन्हीं शस्त्रों के दुरुपयोग ने समस्या उत्पन्न की है। और यही शस्त्र इसका समाधान भी करेंगे। कहते हैं काँटे को काँटा ही निकालता है। मेडिकल क्षेत्र में सभी उपचार पद्धतियों का भी यही सिद्धान्त है। प्रसन्नता मानव की मूल आवश्यकता है और मूल्यों का बिखराव भी प्रसन्नता की खोज का परिणाम है। आधुनिकीकरण की चकाचौंध में मानव को लगा कि सुख के साधन ही प्रसन्नता का आश्वासन हैं और उसने अपनी पूरी ऊर्जा उनको जुटाने में लगा दी है। इस कार्य में वह इतना व्यस्त हो गया है कि सुख प्राप्त करने का समय भी उसके पास नहीं है, आनन्द उठाने की बात तो दूर है। इतना ही नहीं, वह यह भी भूल गया है कि जीवन सीमित है और जब तक उसे इसका आभास होता है सुख अथवा आनन्द प्राप्त करने का समय ही उसके पास नहीं रहता। यदि उसे इन्हें प्राप्त करने का कोई सरल उपाय मिल जाय तो वह निःसंदेह उसकी ओर आकर्षित होगा और मूल्यों की स्थापना स्वाभाविक रूप से होने लगेगी। शिक्षा एवं शिक्षा के क्षेत्र से जुड़े लोगों की भूमिका इसी दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है। उन्हें

पूरी समस्या के कारणों को समझते हुए उनका तर्कपूर्ण एवं वैज्ञानिक समाधान समाज को देना होगा और मात्र दोषारोपण करने में इतिश्री मानने की प्रवृत्ति से बचना होगा। अतः यह चर्चा और भी महत्वपूर्ण हो जाती है।

सबसे पहले हमें मानव की मूल आवश्यकताओं को ही ठीक से समझना होगा। इनमें भोजन, वस्त्र एवं घर सबसे महत्वपूर्ण हैं और तीनों ही सीमित हैं। कोई भी एक निश्चित माप से अधिक भोजन, वस्त्र अथवा स्थान का उपयोग नहीं कर सकता है और यदि कोई ऐसा प्रयास करता है तो वह हमारी प्रसन्नता में बाधक ही बनेगा। इस तथ्य को अनेक उदाहरणों से अधिक स्पष्ट किया जा सकता है किन्तु मुझे इसकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। प्रकृति में सभी लोगों की इन मूल आवश्यकताओं को पूरी करने की क्षमता है किन्तु लोभ को पूरा करने की नहीं। आज साधनों का अभाव कुछ लोगों के कारण है जो स्वयं तो इन साधनों का उपयोग कर नहीं पाते किन्तु दूसरों को इनसे वंचित अवश्य करते हैं। आज अर्थशास्त्री इस बात पर जोर दे रहे हैं कि यदि साधनों के वितरण में बहुत अन्तर हो तो ऐसी आर्थिक व्यवस्था को विकसित नहीं कहा जा सकता। इससे समाज में छीना-झपटी की प्रवृत्ति बढ़ती है और मूल्य स्थापित नहीं रहते। हमें शिक्षा के माध्यम से अपने बच्चों व छात्रों को अपनी आवश्यकताओं के सही आकलन को तर्कपूर्ण ढंग से समझते हुए उनमें संतोष का गुण विकसित करना होगा। यदि प्रारम्भ से ही हमारा दृष्टिकोण व्यापक बने और हम अपनी आवश्यकताओं के साथ-साथ दूसरों की आवश्यकताओं का भी ध्यान रखें, तो यह गुण हममें स्वाभाविक रूप से विकसित होगा। आज के सभ्य एवं विकसित

समाज में मूल आवश्यकताओं के अतिरिक्त भी अनेक आवश्यकताएँ हैं जिन्हें सहजता से उपलब्ध होना चाहिए। इस दृष्टि से भी शिक्षा के क्षेत्र का महत्त्व बढ़ जाता है। यह महत्त्व न केवल ऐसी सुविधाओं को विकसित करने की दृष्टि है बल्कि उनको उपलब्ध कराने की दृष्टि से भी है। प्रशासन एवं प्रबंधन से जुड़े सभी लोगों की यह जिम्मेदारी है कि वे इन सुविधाओं का न्यूनतम दुरुपयोग होने दें ताकि ये अधिक से अधिक लोगों तक सहज रूप से पहुँच सकें। इस प्रकार की आवश्यकताओं में शिक्षा, स्वास्थ्य सेवायें, परिवहन, सुरक्षा, मनोरंजन, स्वच्छता, रोजगार आदि मुख्य हैं और सभ्य समाज के लिए आवश्यक हैं। यदि इनका प्रबन्धन दक्षता एवं पारदर्शिता से किया जाय तो अधिकांश लोगों को मूल्यों से हटने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। मूल्यों का बिखराव तभी होता है जब हमें आवश्यक सुविधाएँ सामान्य व्यवस्था के अन्तर्गत सहज रूप से न मिलें। इसके लिए भी हमारा दृष्टिकोण व्यापक होना आवश्यक है। यदि हम व्यवस्था के साथ सहयोग करते हुए उतनी ही सेवाओं की माँग करें जितनी हमारी वास्तविक आवश्यकता है तो व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने में सहायता मिलती है। इस प्रकार यह एक चक्रीय व्यवस्था है। इसमें यदि हम निरंतर सुधार की दिशा में चलें तो व्यवस्था बेहतर होती है और मूल्यों का बिखराव स्वयं कम होता जाता है। यही बात उल्टी दिशा में भी सत्य है। शिक्षा की भूमिका कुशल प्रबंधन एवं व्यापक सोच विकसित करने में है। साथ ही इस बारे में आवश्यक नियम व कानून बनाने में भी है।

अतः हमें अपने जीवन के प्रति भी व्यापक दृष्टिकोण रखना होगा। मानव जीवन का उद्देश्य



मात्र इस भूमि पर जन्म लेकर मृत्यु प्राप्त करना नहीं है। यह एक अत्यन्त दुर्लभ अवसर है जो बहुत सौभाग्य से प्राप्त होता है। मानव जीवन का वास्तविक उद्देश्य 'पूर्णता' प्राप्त करना है जिसे हम 'आत्मसाक्षात्कार', 'मोक्ष' आदि नाम से भी जानते हैं। आज तो वैज्ञानिक भी 'पुनर्जन्म के सिद्धान्त' को मानने लगे हैं। यदि हम एक जन्म गवाँ देते हैं तो हमें जीवन का लक्ष्य प्राप्त करते हुए पुनर्जन्म लेना होता है और यह प्रक्रिया सतत चलती है। अतः इस चक्र से जितनी जल्दी छूट मिल जाये उतना ही अच्छा है। मुझे इस क्षेत्र में चिंतन करने का पर्याप्त सुअवसर मिला है और मैंने इसे पूर्णतः वैज्ञानिक व तर्कपूर्ण पाया है। वास्तव में अध्यात्म पर मैंने जितनी पुस्तकें पढ़ीं उनमें सबसे अच्छी पुस्तक इंग्लैंड के एक प्रसिद्ध भौतिकशास्त्री द्वारा ही लिखी गयी है। आज 'अध्यात्म' को समझने में बड़ी त्रुटि हो रही है। सामान्यतः इसका अर्थ लगाया जाता है कि हम अपने पारिवारिक एवं सामाजिक कर्तव्यों को छोड़ दें। वास्तविकता इसके विपरीत है। यदि हम सचमुच आध्यात्मिक हैं तो अपने कर्तव्यों को और भी निष्ठा से करेंगे किन्तु उनमें हमें लोभ अथवा स्वार्थ नहीं होगा। उस दशा में हमारे सभी कार्य योग का रूप ले लेते हैं और व्यापक हित में होते हैं। इससे न केवल हमारा बाह्य विकास होता है, वरन् हम आंतरिक रूप से विकसित होते हुए जीवन का लक्ष्य भी प्राप्त करते हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्तिगत स्तर पर मूल्यों से विचलन का प्रश्न ही नहीं उठता और हम उन पर प्राकृतिक रूप में प्रयासहीनता के साथ चलते हैं। जब समाज में अधिक से अधिक लोग ऐसा करते हैं तो समरसता उत्पन्न होती है और सर्वत्र शांति की स्थापना रहती है। आध्यात्मिकता के प्रति यह दृष्टिकोण उत्पन्न

करना भी शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए और ऐसा करने में किसी वर्ग विशेष को बाधा नहीं बनना चाहिए।

अंत में मैं प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू द्वारा कही गयी एक बात का उल्लेख करना चाहूँगा। उनका मानना था कि समाज में बुराई का कारण स्वार्थ है किन्तु अच्छाई का कारण परम स्वार्थ है। एक ऐसा स्वार्थ जो सबके लिए हितकारी हो, जिससे स्वयं के साथ-साथ दूसरों को भी सुख मिले। उनका कहना था कि जब हम दूसरों के हित की सोचते हैं और उस दिशा में काम करते हैं तो जिस प्रसन्नता का अनुभव होता है, उसकी कल्पना भी संकीर्ण स्वार्थ के लिए काम करने वाले नहीं कर पाते। अतः यदि हमें स्वार्थी बनना ही है तो उसका इतना विस्तार कर दें कि हमारे साथ-साथ दूसरों को भी सुख मिले। ऐसा सुख ही स्थायी होता है और जीवन का लक्ष्य प्राप्त करने में सहायक भी। मन की ऐसी स्थिति प्राप्त होने पर आधुनिकीकरण भी वरदान सिद्ध होगा और उसकी सहायता से हम अपनी क्षमता का पूर्ण उपयोग कर सकेंगे। मूल्यों का बिखराव रोकने का यही एक मात्र साधन है। •

सच्चा तप यह है कि अपने भाइयों के ताप से तपा जाय, सच्चा यज्ञ यह है कि जिसमें अपने स्वार्थ की आहुति दी जाय, सच्चा दान वह है जिसमें कि परमार्थ किया जाय। परमात्मा सबके हृदय में व्यापक है। इसलिए जितने प्राणियों को हम प्रसन्न करें, उतने ही गुना ईश्वर को प्रसन्न करेंगे।

— पं० मदनमोहन मालवीय

# भूमण्डलीकृत भारत का मूल्य संकट

डॉ० अमित कुमार सिंह

“मेरा यह कहना नहीं है कि हम शेष दुनिया से बचकर रहें या अपने आसपास दीवारें खड़ी कर लें। मैं यह जरूर कहता हूँ कि पहले हम अपनी संस्कृति का सम्मान करना सीखें और उसे आत्मसात् करें। दूसरी संस्कृतियों के सम्मान की, उनकी विशेषताओं को समझने और स्वीकार करने की बात उसके बाद ही आ सकती है, उससे पहले नहीं। मेरी यह दृढ़ मान्यता है कि हमारी संस्कृति में जैसी मूल्यवान निधियाँ हैं वैसी किसी संस्कृति में नहीं हैं। हमने उसे पहचाना नहीं है, हमें उसके अध्ययन का तिरस्कार करना, उसके गुणों की कम कीमत करना सिखाया गया है।”

— महात्मा गाँधी, यंग इंडिया 01.09.1921

“वसुधैव कुटुम्बकम्” केवल भारत की एक दार्शनिक आत्म-अभिव्यक्ति नहीं है। सिन्धु घाटी सभ्यता की प्राचीन परम्परा से भारत वैश्वीकरण की भावना का एक प्राचीन अनुगामी रहा है। सैन्धव निवासियों का भारतीय प्रदेशों के अतिरिक्त विश्व के अन्य कई देशों के साथ भी व्यापारिक एवं सांस्कृतिक संबंध था। मध्य एशिया, फारस की खाड़ी के देशों—उत्तरी पूर्वी अफगानिस्तान, ईरान, बहरीन द्वीप, मेसोपोटामिया, क्रीट, रोम, चीन और दक्षिण-पूर्व एशिया (इंडोनेशिया, थाईलैण्ड) के साथ भारत ने घनिष्ठ व्यापारिक संबंध स्थापित कर रखे थे। ए०एल० बाशम भी ‘वण्डर दैट वाज इंडिया’ में लिखते हैं कि, ‘प्रवासी एवं व्यापारी भारत में आते रहे और भारतीयों ने भी व्यापार तथा संस्कृति का विस्तार अपनी सीमाओं के बाहर किया।’ विश्व की प्राचीनतम सभ्यता एवं संस्कृति में से एक भारतीय संस्कृति परिवर्तन के कई थपेड़ों से जूझती एवं निखरती

रही है। समयांतर में विभिन्न कारकों एवं कारणों ने इसके समक्ष नई चुनौतियाँ पैदा की हैं, ऐसे ही इक्कीसवीं सदी में भूमण्डलीकरण ने भारत को एक नए सांस्कृतिक दौराहे पर खड़ा कर दिया है।

**बाजार नये मूल्यों का वाहक —**

भूमण्डलीकरण के खेल में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा बाजार के माध्यम से एक मूल्य व संस्कृति को परोसा जाता है। यह मूल्य निश्चित रूप से अमेरिकी जीवन-शैली को अपना आदर्श मानता है। यह समूचे विश्व में संस्कृति के समरूपीकरण का प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष प्रयास करता है। चूँकि प्रत्येक संस्कृति में कुछ विशिष्टताएँ होती हैं, जो अपनी परिस्थितियों व मूल्यों के अनुसार स्वयं को समायोजित करती हैं। भूमण्डलीकरण ने जिस नई संस्कृति को प्रस्तुत किया है, वह नये मूल्य-संकट को जन्म देती है। मीडिया, विज्ञापन व बाजार के माध्यम से यह ऐसी संस्कृति को बढ़ावा देता है जिसे अपनाना सरल नहीं होता है। लेकिन व्यक्ति स्वयं को इस नयी संस्कृति के आकर्षण से अलग भी नहीं रख पाता है क्योंकि, इसे सदैव आधुनिकता से जोड़ कर प्रस्तुत किया जाता है। दूसरी ओर व्यक्ति अपने पुराने मूल्यों को भी छोड़ने में संकोच करता है। फलतः वह नये सांस्कृतिक संकट से जूझता रहता है। यह वर्ग न आधुनिक ही बन पाता है और न पारम्परिक।

भूमण्डलीकरण के तथाकथित आधुनिक मूल्य ने सारे भारतीय जीवन-मूल्यों को प्रभावित किया है। अब प्रत्येक मूल्य बाजार द्वारा निर्धारित व संचालित हो रहे हैं। बाजार का अर्थशास्त्र बहुत सक्षम है, फलतः विज्ञापनों के माध्यम से वह व्यक्तियों



की सोच को इस कदर बदल रहा है कि हम इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। जीवन का प्रत्येक क्षेत्र अब बाजार द्वारा संचालित हो रहा है। बात चाहे उपभोक्तावाद को अलग-अभिव्यक्ति से जोड़ने की हो या फिर अपनी पहचान को उपभोक्तावाद के रूप में प्रदर्शित करने की। यही नहीं, बाजार सुन्दरता को सेक्स अपील से जोड़ता है, धर्म और अध्यात्म का व्यवसायीकरण करता है और प्रेम को प्रदर्शन की वस्तु मानता है। यह अश्लीलता एवं नग्नता को कला, संस्कृति व स्वतंत्रता से जोड़ने में भी कोई संकोच नहीं करता है।

रुचियों के क्रांतिकारी बदलाव ने जीवन के सभी आयामों को प्रभावित किया है। भोजन का ही मामला लें। भोजन के बारे में प्रचलित उक्ति थी कि, 'दिल का रास्ता पेट से होकर गुजरता है।' इसका सीधा आशय यह है कि भोजन केवल पेट भरने का काम नहीं करता है बल्कि यह लोगों को नजदीक भी लाता है, रिश्तों को मजबूती प्रदान करता है। लेकिन पहले भोजन खालिस तौर पर घर का मामला होता था जो काफी धीरे-धीरे बाहर निकला। आर्थिक उदारीकरण ने खानपान की आदतों को एकदम शीर्षासन करा दिया है। आज बाहर खाने जाना भारतीयों का सबसे पसंदीदा शगल है। भारतीय पॉश रेस्तराओं, अच्छे-बुरे होटलों, ढाबों, सड़क छाप टेलों में अपनी रसना की तृप्ति पर सालाना 35,000 करोड़ रुपये खर्च कर रहे हैं। परम्परावादी पूरब में 7.9 फीसदी मासिक आय बाहर जाने पर खर्च की जा रही है।

हम क्या खाएंगे, आज यह भी हम नहीं बल्कि बाजार तय कर रहा है। सामान्यतः भूख का रिश्ता स्वाद, सेहत और उदर पोषण से होता है। हम क्या खाएंगे? यह हमारे सुविधा, स्वाद व संसाधनों से निर्धारित होता था। परन्तु अब हम बाजार की भूख के लिए खा रहे हैं। हम क्या, कैसे

और किस तरह खाएंगे यह भी बाजार तय कर रहा है क्योंकि सामान्यतः बाजार द्वारा रचित मान्यताओं को बिना सोचे-विचारे स्वीकार कर लिया जाता है। दाल-चावल, रोटी, सब्जी जैसे पारम्परिक आहार की बजाए अब फास्ट-फूड खाना प्रतिष्ठा का विषय बन गया है। फास्ट-फूड की बढ़ती प्रतिष्ठा स्वयं इस आंकड़े से सिद्ध होती है कि भारत में फास्ट-फूड का बाजार हर साल 40 प्रतिशत से अधिक दर से बढ़ रहा है। वर्ष 2005 के अंत तक भारत में फास्ट-फूड का बाजार सालाना 4,800 करोड़ रुपये से ऊपर जा पहुँचा है। कॉन्फेडरेशन ऑफ इंडियन इंडस्ट्रीज (सी.आई.आई.) के अनुसार, भारत का पूरा खाद्य बाजार सालाना ढाई लाख करोड़ रुपये का है। निष्कर्ष साफ है कि आम-भारतीयों की आहार-रुचि व शैली को बदल कर बाजार अंधाधुंध अपनी जेब भर रहा है। बाजार की इस लाभ प्रेरित मानसिकता का भारतीयों के स्वास्थ्य पर बहुत ही नकारात्मक प्रभाव देखा जा सकता है।

- भारत उन 10 देशों में एक है जहां मोटे लोगों की आबादी सबसे अधिक है।

- भारत में 10 बच्चों में से एक शहरी बच्चे का वजन अपनी उम्र के लिहाज से अधिक है।

- भारतीय शहरों में 12 करोड़ लोग मोटापे की गंभीर बीमारी से ग्रस्त हैं।

- भारत में वयस्क डायबिटीज की औसत उम्र पहले चालीस वर्ष थी जो अब मात्र सोलह वर्ष हो गई है।

- भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान ने दिल्ली से संबंधित एक रिपोर्ट तैयार की है। इसके अनुसार दिल्ली में 55 प्रतिशत महिलाएँ और 45 प्रतिशत पुरुष बदल रही जीवनशैली के कारण मोटापे का शिकार हो चुके हैं।

- करीब 76 प्रतिशत महिलाएँ दिल्ली में आंत के संक्रमण से ग्रस्त हैं।



● विश्व स्वास्थ्य संगठन ने दिल्ली को भविष्य में 'डायबिटीज कैपिटल ऑफ द वर्ल्ड' के रूप में उभरने की चेतावनी दी है। भारत में 3.5 करोड़ से अधिक लोग मधुमेह से पीड़ित हैं।

निष्कर्ष स्पष्ट है कि स्वास्थ्य की कीमत पर भी बाजार के आकर्षण व मोहजाल से पृथक रहना कठिन हो गया है। निश्चित रूप से यह भूमण्डलीकरण का मूल्य-बोध है जो बाजार के अंधानुकरण को श्रेष्ठता का परिचायक मानता है।

भूमण्डलीकरण के कारण भारत में मनोरंजन के मायने और साधन में भी बदलाव हुआ है। आनन्द के मामले में भारत के लोगों की धारणा दुनिया के दूसरे लोगों, खासकर पश्चिमी देशों से एकदम अलग रही है। इसका कारण यह है कि यहां आनन्द का उत्स आत्मा और हृदय को माना गया है। आज स्थिति बिल्कुल बदली हुई है। लोगों की रुचियों में तेजी से परिवर्तन हुआ है। मनोरंजन उद्योग, जिसमें टी0वी0, फिल्म, केबल टी0वी, रेडियो, संगीत और लाइव मनोरंजन हैं, आज 16000 करोड़ रुपये का आंका जाता है। वर्ष 2002 में मनोरंजन के नए इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों के उत्पादन में 15 फीसदी का इजाफा हुआ है और केबल टी0वी 4.10 करोड़ घरों में पहुँच गया है। पार्टियां आयोजित करने, जिसमें एक रात की थीम पार्टी 2 से 8 लाख रुपये की हो सकती है, का उद्योग 100 करोड़ से भी ज्यादा का है। प्रत्येक वर्ष 40 लाख भारतीय विदेश की सैर को जाते हैं। यह परिवर्तन भूमण्डलीकरण की सांस्कृतिक देन है।

मनोरंजन की तरह बाजार ने भारतीय पहनावे के बारे में भी भारतीय रुचि को बदला है। सामान्यतः धोती, साड़ी, लहंगा-चुन्नी, कुर्ता-पाजामा जैसे भारतीय परिधानों के बारे में भारतीयों की दिलचस्पी कम होती जा रही है। भारत में पुरुषों के द्वारा जींस, टी-शर्ट, जैकेट, जूते जैसी चीजों को पसंद किया

जा रहा है। ये सारी चीजें एक ग्लोबल ब्रांड से जुड़ी होती हैं। फलतः इनका इस्तेमाल एक स्टेटस सिंबल का विषय बन जाता है। उदाहरण के लिए एडीडास और रीबॉक जर्मनी, लेविस और नाईक यूएसए, पीटर इंग्लैण्ड और डार्कस इंग्लैण्ड के उत्पाद हैं। इन उत्पादों का उपयोग स्टेटस सिंबल के साथ-साथ ग्लोबल बाजार में सक्रिय हिस्सेदारी के सुख का अहसास भी भारतीय पुरुषों की रुचि में बदलाव का एक प्रमुख कारण है।

महिलाओं के परिधानों के बारे में ऐसी ही प्रवृत्ति देखी जा सकती है। महिलाओं में आश्चर्यजनक रूप से अपने परम्परागत पहनावे से मोहभंग हो रहा है। अब परम्परागत साड़ी से उनका मन भर गया है। उनका रुझान भी पाश्चात्य शैली के पहनावे की ओर तेजी से उन्मुख हो रहा है। शर्ट-पैंट उनकी खास पसन्द बनती जा रही है। एक सर्वेक्षण के अनुसार भारतीय महिलायें प्रत्येक वर्ष 16.5 करोड़ मूल्य के पैंट और स्कर्ट की खरीददारी करती हैं। विरोधाभास यह है कि अमेरिका कनाडा जैसे पाश्चात्य देशों में भारतीय परम्परागत पहनावा तेजी से लोकप्रिय हो रहा है। भारतीय उपमहाद्वीप में भी श्रीलंका और बांग्लादेश जैसे देशों में शादी के अवसर पर भारतीय परिधानों की लोकप्रियता बढ़ रही है। इन परिवर्तनों का मुख्य कारण बाजार की शक्तियां हैं। हम देख सकते हैं कि बाजार जीवन के प्रत्येक पहलू का व्यापार कर रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव जीवन का कोई भी पक्ष ऐसा नहीं है जो बाजार द्वारा निर्धारित मानकों एवं मूल्यों से अछूता रह गया है। यह भूमण्डलीकरण का व्यापक सामाजिक प्रभाव है।

**उपभोक्तावाद और बाजारवाद : एक नई जीवन शैली —**

भारत की पहचान एक आध्यात्मिक भूमि

के रूप में की जाती है। भारत एक ऐसा देश है जहाँ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र एवं कृत्य में धर्म रचा-बसा है। जर्मन विद्वान मैक्समूलर ने लिखा है "यदि कोई मुझसे पूछे कि इस आकाश के नीचे वह स्थान कौन सा है, जहाँ मानव-मानस का अपूर्व, अलौकिक और पूर्ण विकास हुआ है, प्लेटो और कांट के भक्त भी जिसकी सराहना किए बिना नहीं रहेंगे तो मैं असंदिग्ध रूप से कहूंगा कि वह स्थान भारत है।" भूमण्डलीकरण के पश्चात् भारत की एक नई पहचान स्थापित हुई है। यह नई पहचान उसकी आध्यात्मिक पहचान के पूर्णतया विपरीत है। भूमण्डलीकृत भारत का समाज एक ऐसे उपभोक्तावादी समाज के रूप में विकसित हो रहा है, जहाँ बाजारवाद भारतीयों की एक नई जीवन शैली बन कर उभरा है। भारत का मध्यम वर्ग एक नई दुनिया में प्रवेश कर चुका है जहाँ उपभोग का संबंध केवल उसकी आवश्यकता एवं संतुष्टि से नहीं रह गया है। यह व्यक्ति के पहचान से भी संबंधित हो गया है। इसी का परिणाम है कि शॉपिंग राष्ट्रीय शगल बन गया है। समाज-वैज्ञानिक शिव विश्वनाथन का मानना है कि शॉपिंग आज भारत के अनौपचारिक राष्ट्रीय खेल का रूप धारण कर चुका है। आंकड़े स्वयं इसकी पुष्टि करते हैं। वर्ष 1985-86 की तुलना में अगर 1995-96 के आंकड़ों का अध्ययन किया जाय तो हम स्पष्ट रूप से यह पाते हैं कि आर्थिक सुधारों के पश्चात् स्थायी उपभोक्ता मदों की खरीदारी में तेजी से वृद्धि हो रही है।

उपभोक्तावाद मात्र वस्तुओं के क्रय-विक्रय तक सीमित नहीं है। टीवी और केबल में भी प्रचार के माध्यम से ऐसे मूल्यों को इस मध्यम वर्गीय उपभोक्ता के अन्तः तक पहुँचाया जा रहा है जो हमारे सांस्कृतिक मूल्यों से मेल नहीं खाते बल्कि कुछ हद तक हमारे जीवन मूल्यों को कुरूप और विकृत बनाते हैं। इस प्रवृत्ति को एक अन्य उदाहरण

से समझा जा सकता है। हिटलर ने अपनी आत्मकथा मीन कैम्प में यह लिखा है कि किसी झूठ को नौ बार दोहराने से वह स्वतः सच में परिवर्तित हो जाता है। इस मान्यता से हम असहमत नहीं हो सकते हैं। यही नहीं, हम यह भी देख सकते हैं कि टी0वी0 और केबल के माध्यम से दिन-रात बहुराष्ट्रीय कम्पनियां अपने उत्पाद बेचने के लिए झूठ परोस रही हैं। ये बहुराष्ट्रीय कम्पनियां (जिनमें कुछ का बजट भारत सरकार के बजट से भी अधिक है) एक बड़ी रकम विज्ञापनों में खर्च करती हैं। एक सर्वेक्षण के अनुसार 1995 में उपभोक्ताओं पर अपना निशाना और बेहतर ढंग से साधने के लिए पहली दस कम्पनियों ने 660 करोड़ रुपये का व्यय किया। विज्ञापन पर सर्वाधिक खर्च करने वाली कम्पनी हिन्दुस्तान लीवर का विज्ञापन बजट एक वर्ष में 22 प्रतिशत बढ़ा है। इन विज्ञापनों ने जनमानस के मूल्यों में क्रांतिकारी बदलाव ला दिया है।

बाजारवाद और पूँजीवाद के मध्य चोली-दामन का रिश्ता होता है। उदारवादी चिंतक पूँजीवाद को लोकतंत्र से जोड़कर परिभाषित करते हैं। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से बाजारवाद भी लोकतंत्र का एक अनिवार्य अंग बन जाता है। इसी परिप्रेक्ष्य में सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक संदर्भों में भी भारत में बाजारवाद का सकारात्मक चेहरा प्रस्तुत किया जाता है।

**नकारात्मक पहलू -**

वर्तमान उपभोक्तावादी संस्कृति में मनुष्य एक पैसा कमाने वाला यंत्र बन कर रह गया है। इस आर्थिक मनुष्य की बेचारगी यह है कि उसका जीवन विविध आयामों में विकसित होने से वंचित हो रहा है। हाबर्ट मरक्युज के शब्दों में मनुष्य "एक आयामी" होता जा रहा है। इस एक आयामी मनुष्य से व्यापक फलकों में एक नए सांस्कृतिक खतरे की सुगबुगाहट देखी जा सकती

है। भारत के संदर्भ में समाज मनोविद् आशीष नंदी इस बाजार संस्कृति की ओर इशारा करते हैं। वे चिंता भी जताते हैं कि कहीं बाजार संस्कृति भारत की समृद्ध विविधता और बहुसांस्कृतिकता को निम्न स्तर की समरूपता और अमेरिकी शैली की 'मेल्टिंग पॉट' संस्कृति में पतित न कर दे।

1. उपभोक्तावाद ने मनुष्य को ऐसा भ्रमित बना दिया है कि वह सदैव एक असंतुष्टि का जीवन जीता है। सर्वप्रथम सम्पूर्ण ऊर्जा बाजार के अनुसार स्वयं को अपटूडेट बनाने में लगायी जाती है। इसमें प्राप्त सफलता के बाद भी व्यक्ति सदैव एक असफलता का दंश झेलता रहता है। दरअसल बाजार में उपलब्ध वस्तुएँ व फैशन इतनी तेजी से बदलता है कि कभी भी इस संतुष्टि भरी उपलब्धता के चरम बिन्दु तक पहुँचा नहीं जा सकता। नतीजा—अवसाद व निराशा—हताशा भरी जीवन—दृष्टि। वस्तुओं की भीड़ भरी बाजार में व्यक्ति किस हद तक भ्रमित व शंकित हो सकता है, इसके लिये पश्चिम के एक दार्शनिक विमर्श के उदाहरण को समझा जा सकता है। पश्चिम के एक दार्शनिक विमर्श में एक गधे को समान दूरी पर स्थित घास के बोझों के बीच रखा गया और गधा घास के बोझों की समान दूरी के कारण यह तय करने में ही भूख से मर गया कि वह किस बोझ की घास खाये। संप्रति समाज में प्रत्येक व्यक्ति एक उपभोक्ता बन कर रह गया है और बाजार में वह असंख्य वस्तुओं के बीच खड़ा है। उसके पास इन्हें खरीदने की क्षमता नहीं रहती है, लेकिन इन्हें खरीदने की लालसा मन में अवश्य होती है। इसी कारण आज मानसिक तनाव अधिक है। बड़ी संख्या में लोग दिमागी बीमारी का शिकार होते हैं और आत्महत्या करते हैं। हार्वर्ड विश्वविद्यालय में मनोविज्ञान के प्रोफेसर बेन शेहर भी भूमण्डलीकरण के मानसिक प्रभावों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। वे इंगित करते हैं कि अवसाद की समस्या

आज वर्ष 1960 की तुलना में 10 गुना बढ़ गई है। वर्ष 1960 में अवसाद का औसत उम्र 29.5 वर्ष था जो आज घटकर 14.5 वर्ष हो गया है। यह स्थिति कमोवेश सभी विकसित और विकासशील देशों में देखी जा सकती है। भारत भी इसका अपवाद नहीं है। भारतीय राजधानी में 35 प्रतिशत लोग अनिद्रा की समस्या से ग्रस्त हैं। यही नहीं अनिद्रा से ग्रस्त भारतीयों की संख्या 12.5 करोड़ तक पहुँच गयी है। 1984 से 1994 के बीच देश में आत्महत्या करने वाले लोगों की संख्या दोगुनी हो चुकी है। आत्महत्या की कोशिश करने वालों की संख्या इस आंकड़े में शामिल नहीं है। यह सफल होने वालों से दस गुनी अधिक है।

2. उपभोक्तावाद बाजार की शक्तियों द्वारा सदैव वस्तुओं के नाम पर अपने विज्ञापनों के माध्यम से खुशियाँ व सपने बेचने का कार्य करते हैं। इससे युवा वर्ग के मानस में बस यही जीवन दर्शन घर कर जाता है "आज के लिए जियो" फलतः किशोरों में अपराध बढ़ रहे हैं। राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो की "भारत में अपराध" शीर्षक से आई नवीनतम रिपोर्ट में हत्या, बलात्कार, चोरी, डकैती और अपहरण सरीखे गंभीर अपराधों में लिप्त अपराधियों में से 41 फीसदी की उम्र 18 से 30 वर्ष के बीच थी। यह आँकड़ा पिछले साल के अनुपात में 6 प्रतिशत अधिक है। इसी तरह देश में अपराधों की इस श्रेणी के लिये 18 वर्ष से कम आयु के लड़के देश भर में 23,497 अपराधों के लिये धरे गये। इनमें 616 हत्या और 542 बलात्कार के आरोप में पकड़े गये। इस वर्ग में लड़कियाँ 1,519 अपराधों के लिये पकड़ी गईं। युवाओं में निरन्तर बढ़ रहे अपराध के बारे में सामाजिक मनोविज्ञानी आशीष नंदी चेताते हैं "भारत में अपराध बढ़ने की रफ्तार दुनिया भर में सबसे तेज है। विकास के नाम पर बड़े पैमाने पर लोगों के अपनी जड़ों से कटने के कारण सामुदायिक संबंध



टूटने से अपराध बड़ी तेजी से बढ़ रहे हैं।”

3. भूमण्डलीकरण के माध्यम से बाजारवाद व उपभोक्तावाद ने जिन नये मूल्यों व प्रतिमानों को जन्म दिया है वे व्यक्ति के पारम्परिक मूल्यों के बारे में एक असुरक्षा बोध को जन्म देते हैं। धार्मिक कट्टरता एक ऐसी ही कुंठित अभिव्यक्ति है। इस अभिव्यक्ति ने बर्बरता की संस्कृति को जन्म दिया है। आतंकवाद और अन्य अपराध का सम्बन्ध भी समाजशास्त्री इस असुरक्षा बोध से जोड़ते हैं। उदाहरणस्वरूप अलकायदा के नम्बर दो नेता आयमान—अल—जवाहिरी का मानना है कि, भूमण्डलीकरण से इस्लाम का अपमान होता है। भारत समेत अन्य विकासशील देशों में धार्मिक स्तर पर हो रहे कट्टरता का सम्बन्ध इसी कुंठित अभिव्यक्ति से जोड़कर देखा जा सकता है।

### एक नये मध्यम वर्ग का उदय —

भारत में आर्थिक उदारीकरण का आरम्भ होने के पश्चात् एक मध्यमवर्ग का जन्म हुआ है। जब भारत आजाद हुआ तो यह मध्यम वर्ग कुल जनसंख्या का पांच प्रतिशत था। आज यही मध्यम वर्ग भारत की कुल जनसंख्या का तीस प्रतिशत है। यह मध्यम वर्ग अपनी संख्या और संस्कृति—दोनों दृष्टि से खासा महत्व रखता है। राष्ट्रीय अनुप्रयुक्त आर्थिक अनुसंधान परिषद ने यह अनुमान लगाया था कि वर्ष 2007 तक यह उपभोक्ता वर्ग 910 लाख कुटुम्ब और 4500 लाख लोगों तक पहुँच जाएगा। सांस्कृतिक दृष्टि से भी यह वर्ग अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस मध्यम वर्ग ने नये मूल्यों के प्रतिमान को जन्म दिया है। इनके पैर परम्परा से जुड़े हुए हैं लेकिन ये आधुनिकता की उड़ान से पूर्व परम्परा को भी नहीं छोड़ना चाहते हैं। इस छटपटाहट और अकुलाहट से एक अजीबोगरीब संस्कृति पनप रही है जो न तो विशुद्ध भारतीय है और न ही विशुद्ध पश्चिमी। इस प्रक्रिया को एक टिप्पणीकार ने

संस्कृतियों का घातक संकरण (दोगलापन) करार दिया है। ऐसे ही मूल्य जीवन के विविध आयामों में देखे जा सकते हैं। यह मध्यम वर्ग सामाजिक सरोकारों से अछूता और घोर स्वार्थी है जो समाज में एक ऐसे उपभोक्ता वर्ग के रूप में उभर कर सामने आया है जिसकी दिलचस्पी केवल अपने दैनिक सुख तक सीमित है। संस्कृति के नाम पर उपभोक्तावाद की संस्कृति ही इनकी सर्वमान्य एवं सर्वस्वीकृत संस्कृति है। इस भारतीय मध्यम वर्ग ने रहीम के सूत्र “तैते पाँव पसारिये जैते लम्बी सौर” को दरकिनार करते हुए “ऋणमकृत्वा घृतम पिबेत्” जैसे श्लोक को जीवन का मूलमंत्र बना दिया है। इसके कई उदाहरण देखे जा सकते हैं। सम्प्रति उधार के प्रति भारतीय मध्यम वर्ग का रवैया पूरी तरह बदला है। पहले मध्यम वर्ग का व्यक्ति बचत पर जोर देता था और फिर बचत के बाद ही खरीददारी करता था। आज वह कार, मकान या कोई भी उपभोक्ता सामान खुशी—खुशी कर्ज लेकर खरीदने को तैयार है। जीवन का उद्देश्य उधार की खुशी ढूँढ़ने तक सीमित और केन्द्रित रह गयी है। ई0एम0आई0 जैसी सुविधाओं ने मकान, कार, कम्प्यूटर, टी0वी0 जैसी सभी वस्तुओं को सुलभ करा दिया है और इस प्रकार मध्यमवर्गीय लालसाओं को खुलकर हवा दिया है। आज इनकी जो जीवनशैली है, कुछ समय पूर्व तक केवल सम्पन्न धनिक वर्ग तक सीमित थी परन्तु भारत में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने “आज खरीदो—कल अदा करो” के सिद्धान्त को लोकप्रिय बना उपभोक्तावाद को ओर भी हवा दिया है। इस प्रकार इस मध्यम वर्ग के जीवन का आनन्द उपभोक्तावाद की दीवारों में कैद होकर रह गया है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के द्वारा बाजार में आज सभी महंगे ब्रांड उपस्थित हैं। एक तरफ मध्यम वर्ग की कुंठा को भड़काकर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने उपभोक्तावाद की संस्कृति का प्रचार—प्रसार

किया है तो दूसरी ओर इनकी उपलब्धता के द्वारा। आइये, आज के रोल मॉडल धनी-मनी-ब्रांड विशेष को अहमियत देने वाले किसी भूमण्डलीयकश्त भारतीय का जायजा लेते हैं। वे श्रीमान पोर्श केने एसयूवी (कीमत 50 लाख रु0) से चलते हैं। उनका एरमेनेगिल्डो सूट (कीमत 3 लाख रु0) इटली के सबसे नफीस मोरेनो ऊन से तैयार होता है। उनकी कलाई पातेक फिलिप मास्टर कैलेंडर मेन्स क्रोनोग्राफ घड़ी (कीमत 20 लाख रु0) से सजती है। आंखों पर टैग ह्यूवर स्पोर्ट्स विजस चश्मा (21000 रु0) फबता है। वे मगरमच्छ की खाल वाले ह्यूगो बॉस (14924रु0) जूते (19800 रु0) पहनते हैं और उँगलियों के बीच होता है नन्हा सा नोकिया कम्प्यूनिकेटर 9500 मोबाइल (52000 रु0)। आंकड़ें स्वयं बताते हैं कैसे मध्यम वर्ग एक उपभोक्ता बनकर रह गया है। नेशनल कौंसिल फॉर एप्लाइड इकोनोमिक रिसर्च के आंकड़ों के अनुसार मध्यम वर्ग (2 लाख से 10 लाख आय) द्वारा वर्ष 2001 में सभी कार व एयरकंडीशनर का 60 प्रतिशत और फ्रिज टी0वी0, मोटरसाइकिल का 25 प्रतिशत खरीदा गया। भारत के उच्च और मध्यम वर्ग के 10000 शहरी परिवारों के एस टेक्नोपैक सर्वेक्षण के अनुसार वर्ष 2001 को छोड़कर वर्ष 1999 से लेकर 2003 तक लगातार वार्षिक खर्च में बढ़ोत्तरी हुई है। यह मध्यम वर्ग अपने खर्च कहां कर रहा है यह जानना रोचक होगा। 1999 की तुलना में वर्ष 2003 में 96 प्रतिशत अधिक मोबाइल फोन पर खर्च किया गया, उपभोक्ता सामग्री पर 53 प्रतिशत, 48 प्रतिशत घरेलू सामग्री पर खर्च, 38 प्रतिशत फिल्म और थियेटर पर, 32 प्रतिशत किताबों और संगीत पर, 32 प्रतिशत छुट्टियां बिताने पर, 29 प्रतिशत गृह सज्जा के कपड़े, 10 प्रतिशत कम्प्यूटर और इससे जुड़ी सामग्री पर। बढ़ोत्तरी दर्ज की गयी। खर्च के ब्यौरे को देखकर यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है

कि भारतीय मध्यम वर्ग का जीवन दर्शन क्या है?

भारत में भूमण्डलीकरण के पश्चात आधुनिक जीवन शैली जीने वाला मध्यम वर्ग सामाजिक सरोकारों से बिल्कुल कट गया है। अब वह एक ऐसा घोर व्यक्तिवादी वर्ग है जो केवल अपने ऐशो-आराम की फिक्र करता है। महंगी कारों, अति-आधुनिक उपभोक्ता मशीनों, डिजाइनर वस्त्रों और आनुषांगिक वस्तुओं के साथ-साथ जिस पंचतारा जीवन शैली को मध्यमवर्ग ने अपनाया है, वह उदारीकरण की प्रक्रिया से जन्मे भोगवादी माहौल का नतीजा है। इसके बारे में 1996 में भारत भ्रमण पर आये नोम-चोमस्की को भी यही लगा *“भारतीय अभिजात वर्ग की जीवन शैली वास्तव में आश्चर्यजनक है। मैंने अमेरिका में भी इस प्रकार की अमीरी नहीं देखी है।”* यह वर्ग बिल्कुल असंवेदनशील हो चुका है। गरीबी, बेरोजगारी जैसी समस्याओं को देखकर इनके माथे पर शिकन तक नहीं आती। यह नागरिक दायित्वों के प्रति संवेदन शून्य हैं। बड़ी-बड़ी कोठियों वाली पॉश कॉलोनियों में भी कूड़ों के ढेर व टूटी-फूटी सड़कें बड़ी आसानी से देखी जा सकती हैं। इस वर्ग में इतनी सामाजिक चेतना भी नहीं देखी जाती है कि वे सुधार हेतु छोटा-मोटा प्रयास भी करें। घरों के बाहर खड़ी महंगी-महंगी गाड़ियाँ दरअसल यही सोच जाहिर करती हैं बस ऐश करो बाकी चीजें भूल जाओ। अपनी जड़ों से कटा हुआ, परम्परा से मोहग्रस्त और आधुनिकता को ललचायी आंखों से देखने वाला यह मध्यम वर्ग भूमण्डलीकरण की ओर बढ़ चुके भारत की सांस्कृतिक देन है।

**संयुक्त परिवार संकट में -**

भारत में संयुक्त परिवार की प्राचीन परम्परा रही है। सुधीर कक्कड़ अपनी पुस्तक ‘द इंडियन्स, पोर्ट्रेट ऑफ ए पीपुल’ में भारतीय परिवार के बारे में लिखते हैं— *“भारतीय परिवार बड़े और शोरगुल वाले होते हैं जिसमें माता-पिता और बच्चों के*

अतिरिक्त चाचा-चाची, और कभी-कभी ममेरे-फुफेरे-चचेरे भाई बहन एक ही छत के अंदर रहते हैं जिसमें दादा-दादी की अहम् भूमिका हुआ करती है।" अनुभवों से यह सिद्ध होता है कि संयुक्त परिवार की व्यवस्था न केवल एक उपयोगी सुरक्षा कवच थी, बल्कि यह प्रत्येक सदस्य के आर्थिक, शारीरिक, नैतिक, भौतिक, सांस्कृतिक व आध्यात्मिक विकास में अत्यन्त सहायक थी। भूमण्डलीकरण के वर्तमान दौर में परिवार पर आर्थिक तंत्र हावी हो गया है। समाजशास्त्रियों का मानना है "महानगरों व बड़े शहरों में नौकरियों की तलाश में लोग अपने पुश्तैनी घर छोड़ने को बाध्य होते हैं। व्यक्तिगत परिवार का आरम्भ उन्हें जीवन की प्राचीन दर्शन व परम्पराओं से सघन मुक्ति दिलाता है और व्यक्ति की नयी पहचान को स्थापित करता है, लेकिन इसके कई नकारात्मक परिणाम भी देखे जा सकते हैं।" रिश्तों की गर्मी पर आर्थिक तंत्र के निर्मम प्रहार से परिवार के सदस्यों के बीच दूरी, खालीपन व निराशा बढ़ी है। इसके परिणामस्वरूप पारम्परिक परिवार की तुलना में मॉडर्न परिवार में पाँच से छः प्रतिशत लोगों में मानसिक रोगों की सम्भावना बढ़ गयी है। हाल में हुए एक सर्वे के अनुसार "महानगरों के 30 प्रतिशत एकाकी परिवारों में 20 से 25 प्रतिशत बच्चों में विरोधात्मक रवैया और चापलूसी की प्रवृत्ति पाई गयी जबकि पचास प्रतिशत माताओं में उदासीनता, अकेलापन, तनाव आदि समस्याएँ सामने आयीं। वहीं 30 प्रतिशत पुरुषों में प्री और पोस्ट रिटायरमेंट अवसाद देखा गया।" उनका कहना था कि बच्चे उन्हें नहीं पूछते, आगे जाने क्या होगा? पारिवारिक व्यवस्था में दरार पड़ना वैश्वीकरण की भारतीय समाज पर पड़ी सबसे बड़ी मार है।

**पति-पत्नी संबंध में दरार**

**भूमण्डलीकरण के प्रभावस्वरूप पूँजीवादी**

उत्पादन व्यवस्था का जोर बढ़ा है। कृषि के स्थान पर नौकरियों का आकर्षण व उपलब्धता बढ़ी है। संयुक्त परिवार के स्थान पर व्यक्तिगत परिवारों की संख्या में वृद्धि हुई है। इसमें मुख्य रूप से पति-पत्नी और बच्चे होते हैं। गीतांजलि प्रसाद अपनी पुस्तक 'द ग्रेट इंडियन फेमिली' में व्यक्तिगत परिवारों की विसंगतियों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करती हैं। वे कहती हैं 'परिवार जबरदस्त दबाव के शिकार हो रहे हैं। कामकाजी मां, अति व्यावसायिक पिता, कॉल सेंटर में काम करने वाले बच्चे ..... परिवार में साहचर्य के लिए कोई समय शेष नहीं रह गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक व्यक्ति अकेला अपनी दुनिया में जी रहा है। परिवार में निजता और अकेलेपन के कारण परिवार का अर्थ पुनर्परिभाषित हो रहा है।'

भूमण्डलीकृत भारत में माँ-बाप, भाई-बहन और दूसरे सगे संबंधियों से अलग सिर्फ पत्नी-बच्चों के साथ दूर-दराज रहना आम बात बन गयी है। औद्योगिक समाज के तनाव और वैयक्तिक महत्वाकांक्षाओं की टकराहट से पति-पत्नी का संबंध भी अस्थायी बनता जा रहा है। तलाक अब इतने आम हो गये हैं कि आज उन्हें किसी तरह के सामाजिक कलंक के रूप में नहीं देखा जाता है। शादी के साल भर के भीतर आपसी सहमति से अलग होने के मामलों में वर्ष 2000 में 30 फीसदी बढ़ोत्तरी हुई है। 3400 दंपत्तियों ने मुम्बई में 2004 में तलाक के लिये अर्जी दायर की। 1512 मामले पुणे में 2003 में दर्ज हुए। 5210 मामले दिल्ली में 2004 में लम्बित पड़े थे। 2,388 मामले कोलकाता में दर्ज हैं। ऐसा नहीं कि रिश्तों में यह दरार महानगरों तक सीमित है। पति-पत्नी के मध्य सहनशीलता घटी है। पहले शादी को जन्म-जन्मान्तर के बंधन, सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने वाले एक कवच के रूप में देखा जाता था अब लोग नौकरियों को



ज्यादा समय दे रहे हैं, जबकि परिवार को कम। उनमें रिश्ते टूटने के स्थान पर नौकरियाँ खोने का भय कहीं ज्यादा है। मुम्बई की मनोचिकित्सक मिन्नु भोंसले कहती हैं, “यह पीढ़ी वह काम कर रही है, जिसे करने का साहस उसके माता-पिता में नहीं था। ‘हम’ और ‘हमारे’ की जगह ‘मैं’ और ‘तुम’ ले रहे हैं। दो दशक से वैवाहिक संबंधों से जुड़े सैकड़ों मामले निपटा चुके दिल्ली के वकील प्रदीप नरुला कहते हैं, “मैंने कभी भी इतने सारे लोगों को ‘मुझे तुमसे नफरत है’ और ‘मैं तुम्हारे साथ जी नहीं सकता’ सरीखी बातें कहते नहीं सुना। संबंधों में दरार पड़ना उपभोक्तावादी समाज की एक सामान्य विशेषता है जो भारतीय परिवेश में पति-पत्नी के मध्य बहुलता में देखी जा सकती है विशेषकर शहरों, नगरों और महानगरों में।

#### वृद्ध-अब बोझ-

भूमण्डलीकरण ने वृद्धों की स्थिति को कई रूपों में प्रभावित किया है। सबसे पहले यह मिथक टूटा कि बुजुर्ग ज्ञान का भंडार होते हैं। बीसवीं शताब्दी एक तरह से ज्ञान के विस्फोट की शताब्दी थी। इस शताब्दी के देखते-देखते एक ऐसी दुनिया प्रकट हो गयी जिसमें तर्क और प्रमाण ही सब कुछ था। अध्यात्म का स्थान भौतिकता ने ले लिया और बुजुर्ग अपने परम्परागत विश्वास से डिगने के लिए कतई तैयार न थे। फलतः वर्तमान उपभोक्तावादी समाज में अप्रासंगिक सिद्ध होने लगे।

➤ 50 प्रतिशत विधवाएँ भारत में अकेले रहने को मजबूर हैं।

➤ 11 प्रतिशत बुजुर्गों के साथ एक भी युवा नहीं रहता।

➤ 64 प्रतिशत शहरी बुजुर्ग महिलाएँ पूरी तरह से दूसरों पर निर्भर हैं।

➤ 30 प्रतिशत वरिष्ठ नागरिकों को स्वास्थ्य सुविधा की दरकार है।

➤ 71 प्रतिशत पुरुषों के पास संपत्ति है, लेकिन वे आत्मनिर्भर नहीं।

भूमण्डलीकरण के युग में बुजुर्गों की महत्ता को जिस दूसरी चीज से धक्का लगा, वह नौकरियों का नया संसार था, जो प्रत्येक व्यक्ति को सत्ता का निजी केन्द्र बनाता था। परम्परागत समाज में आय अक्सर पारिवारिक होती थी और परिवार का दायित्व मुख्य रूप से मुखिया के हाथों में हुआ करता था। कारखाना पद्धति के विकास और पूंजीवादी व्यवस्था की जबरदस्त सफलता ने निजी या व्यक्तिगत आय की प्रणाली शुरू की। आय की इस नयी व्यवस्था ने पारिवारिक समरसता में छेद करना प्रारंभ कर दिया। अब परिवार में प्रत्येक सदस्य की महत्ता का आकलन उसकी आमदनी से होने लगा और ‘हम’ की जगह ‘मैं’ की अवधारणा से होने लगा।

भूमण्डलीकरण के फलस्वरूप जिन नई नौकरियों के अवसर सामने आये वे मुख्य रूप से महानगरों व बड़े शहरों तक केन्द्रित थे। एक अच्छे जीवन के कथित मिथक ने युवाओं का आकर्षण अब महानगरों व बड़े शहरों की ओर कर दिया। इसके दोतरफा परिमाण हुए। गाँव, कस्बा व छोटे शहरों का संयुक्त परिवार टूटने लगा और इनके स्थान पर महानगरों व बड़े नगरों में नये व्यक्तिगत परिवार सामने आने लगे। ऐसे व्यक्तिगत परिवारों के अस्तित्व में आने से लोगों की अपने माता-पिता से न केवल भौगोलिक बल्कि भावनात्मक दूरी भी बढ़ गयी। आगे बढ़ने की लालसा ने व्यक्ति को अपनी जड़ों से काट दिया। अब उनका सम्पर्क महत्वपूर्ण पारिवारिक घटना-दुर्घटना तक सीमित होकर रह गया है। इस प्रक्रिया में बुजुर्ग अकेले



होने लगे। बुजुर्गों के अकेले होने का यह भूमण्डलीकृत प्रभाव महानगरों तक में देखा जा सकता है। अकेले दिल्ली में दस लाख बुजुर्गों में करीब एक लाख बुजुर्ग अकेले रहते हैं। इनके बेटे-बेटी अन्यत्र या विदेश में रहते हैं। मध्यम वर्ग के उपभोक्तावादी समाज में रिश्तों की गर्माहट कम हुई है। रिश्तों की अनुभूतियों के स्थान पर अब बाजार में नित नई वस्तुओं का प्रभाव देखते हैं। न केवल संयुक्त परिवार टूटे हैं, बल्कि परिवार का पारम्परिक सुरक्षा बोध भी प्रभावित हुआ है। शहरों, नगरों व महानगरों के व्यक्तिगत परिवार में पति-पत्नी और बच्चे अब एक संयुक्त इकाई नहीं रह गये हैं। सफलता की दौड़ में भागते पति के पास समय का अभाव रहता है और धन की प्रचुर उपलब्धता के बाद भी महिलाएँ अकेलेपन और बच्चे तनाव से ग्रस्त देखे जा सकते हैं। ऐसे परिवार में बुजुर्ग स्वयं ही त्याज्य बन जाते हैं जो नये जीवन-मूल्यों व दर्शन में कहीं स्थान नहीं पा सकता है। फलतः वे भय, संशय व पीड़ा से ग्रस्त एकाकी जीवन जीने को अभिशप्त होते हैं। परिवार में आर्थिक हैसियत से भी वृद्धों का महत्व कम होता गया है। परिवार में कभी-कभी ऐसे बुजुर्गों को थोड़ा महत्व इसलिये मिल जाता है, जिनके पास मूल्यवान सम्पत्ति है, लेकिन भारत में ऐसे भाग्यशाली बुजुर्गों की संख्या न्यूनतम है। एशियाई विकास बैंक की सहायता से पेंशन फंड डेवलपमेंट रेगुलेटरी अथॉरिटी ने पेंशन व्यवस्था पर सर्वे के आधार जो आँकड़े उजागर किये हैं, वे बताते हैं कि स्वतन्त्र भारत में पैदा होने के बाद पहली पीढ़ी के नागरिकों के 51-60 आयु वर्ग में से सिर्फ 19 फीसदी ऐसे भाग्यशाली लोग हैं, जो किसी पेंशन योजना के दायरे में आते हैं। भारत जैसा देश जहां वृद्धों को कोई सामाजिक

सुरक्षा प्राप्त नहीं है, 60 वर्ष से अधिक आयु के 80 मिलियन लोगों में केवल 4 प्रतिशत लोगों को पेंशन की सुविधा प्राप्त है। स्पष्ट है कि बड़ी संख्या में बुजुर्गों के पास रिटायरमेंट के बाद अपना स्वाभिमान बनाये रखने के लिए नियमित आय का कोई जरिया नहीं होता है। भूमण्डलीकृत समाज की देन, नये परिवार में 'बुजुर्गों का हाशियाकरण' एक नयी सामाजिक प्रवृत्ति है।

**मासूमियत की हत्या—**

भूमण्डलीकरण के प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दबावों से बच्चे भी अछूते नहीं रह गए हैं। भारतीय समाज में पारम्परिक रूप से संयुक्त परिवारों का बोलबाला था, जिसका स्थान व्यक्तिगत परिवार तेजी से ले रहे हैं। संयुक्त परिवार में जहाँ परिवार बड़ा हुआ करता था, बच्चों और उनकी माताओं की देखभाल के लिए दादा-दादी, चाचा-चाची आदि का एक बड़ा वर्ग होता था। फलतः बच्चों का बड़ा स्वस्थ पालन-पोषण संभव हो पाता था। नाना-नानी, दादा-दादी के सुख से वंचित आज का बच्चा एक ऐसा उद्दण्डी व प्रतिक्रियावादी मानस में जीता है, जो सदैव निराशा, हताशा व अवसाद का शिकार पाया जाता है। शिशु अवस्था से ही बालक दबाव व तनाव का शिकार बन जाता है। सबसे पहले उसे अच्छे स्कूल में दाखिले की बाधा पार करनी पड़ती है। इससे पहले कि वह दस तक की गिनती गिनना सीखे, महत्वाकांक्षी माता-पिता उसके कैरियर के बारे में सोचना शुरू कर देते हैं। परीक्षा में अच्छे नतीजे निकालने का आग्रह बच्चे के दिमाग पर छाया ही रहता है क्योंकि व्यवसायिक शिक्षा के लिए किसी प्रतिष्ठित कॉलेज में प्रवेश नब्बे फीसदी के ऊपर अंक लाए बिना हो नहीं सकता। माता-पिता की बेचैनियों के साथ तालमेल बैठाने में बच्चे अक्षम

सिद्ध होते हैं। फलतः उनमें अवसाद जैसी बीमारियाँ जन्म लेती हैं। देश में आज करीब 12 प्रतिशत बच्चे किसी न किसी मानसिक समस्या से ग्रस्त हैं। पंजाब विश्वविद्यालय की मनोविज्ञानी अनुराधा भंडारी कहती हैं *‘किसी भी कीमत पर कामयाबी की मुहिम आधुनिक परिवेश के लिए अभिशाप बन गई है।’* गत वर्ष पोस्ट-ग्रेजुएट इंस्टीट्यूट ऑफ मेडिकल एजुकेशन एंड रिसर्च से ज्ञात होता है कि चंडीगढ़ में 8-12 साल के 1,500 बच्चों के अध्ययन में 20 फीसदी अपने माँ-बाप की इच्छा के मुताबिक ग्रेड नहीं ला पाते हैं, तो उन्हें शारीरिक दंड दिया जाता है।

परिवार में पुरुष-महिला दोनों के कामकाजी होने के फलस्वरूप माँ-बाप अपनी व्यस्तता के कारण बच्चों को पर्याप्त समय नहीं दे पाते हैं। फलतः उनमें भी अपराध-बोध पनपता है। एक जर्मन इतिहासकार के अनुसार इस अपराधबोध से उबरने के लिए वे बच्चों को खिलौनों से लाद देते हैं। इसके प्रभावस्वरूप बच्चों में भी अनायास उपभोक्तावाद के बीज अंकुरित होने लगते हैं। माता-पिता के स्नेह और संवाद की बजाए पैसे पर विशेष जोर दिए जाने की पुष्टि खिलौनों का कारोबार करता है। भारत में बच्चों के खिलौनों का बाजार 20,000 करोड़ रुपए का है।

यही बच्चे जब किशोरावस्था में प्रवेश करते हैं तो स्थिति और भी विकराल हो जाती है। भूमण्डलीकरण के दबाव में आधुनिक जीवन शैली और ऊँची-आकांक्षाओं, व्यस्त माता-पिता की उदासीनता, समाज में बढ़ते खुलेपन के कारण लड़के-लड़कियों में मूल्यों, नैतिकताओं और वर्जनाओं के प्रति लापरवाही का भाव तेजी से बढ़ रहा है। वहीं उनमें अपनी सांस्कृतिक धरोहरों का ज्ञान बिल्कुल समाप्त होता

जा रहा है। विगत वर्ष पश्चिमी उ0प्र0 के एक समाचार-पत्र द्वारा किये गये एक सर्वे में किशोरों से गाँधीजी के जीवन से सम्बन्धित सामान्य सूचनाएँ जानने का प्रयास किया गया। मसलन-गाँधी जी का जन्म कब हुआ ? गाँधीजी का पूरा नाम क्या है ? गाँधी जी का जन्म स्थल क्या है ? बापू कौन हैं आदि। आश्चर्यजनक रूप से अधिकांश किशोर इस संबंध में कोई सही उत्तर नहीं दे पाए। इन्हीं किशोरों ने बड़े जोश से शाहरूख व मल्लिका शेरावत संबंधी प्रश्नों का सही उत्तर दिया। यह सर्वेक्षण एक क्षेत्र-विशेष का सर्वेक्षण नहीं है, बल्कि समूचे भारत-वर्ष में किशोर/किशोरियों के आदर्श सिने व क्रिकेट खिलाड़ी देखे जा सकते हैं, जो टेलीविजन में दिन-रात तेल व मंजन बेचने में व्यस्त रहते हैं। यही नहीं, अब स्कूली बच्चों की रुचि डेटिंग, इंटरनेट पर अश्लील साहित्य और तस्वीर देखने, एस0एम0एस0 संवाद और सैर-सपाटे में बढ़ गई है। शराब, सिगरेट, सेक्स और अश्लील साहित्य को आम, ‘कोई बात नहीं’, ‘कूल’ और ‘हॉट’ बताया जाता है, यानी स्कूली बच्चों के लिए नैतिकता और मूल्यों के मायने बदल गए हैं।

किशोरों के मूल्यों में गिरावट का दूसरा पहलू भी भयावह है, जो नशाखोरी में सुख ढूँढ़ने का असफल प्रयास करता है। स्कूली बच्चों की पार्टियों में शराबखोरी अब आम-बात हो गयी है। एक अनुमान के अनुसार, देश में हर-रोज सिगरेट के कश से शुरुआत करने वाले किशोरों की संख्या करीब 3,000 है। संयुक्त राष्ट्र मानक पदार्थ एवं अपराध कार्यालय ने भारत में मादक पदार्थों के इस्तेमाल पर 2004 में राष्ट्रीय सर्वेक्षण किया था; जिसमें पाया गया कि युवाओं में मादक-पदार्थों का सेवन आम है। घर-घर जाकर



किए गए इस सर्वेक्षण के मुताबिक शराब पीने वाले नौ फीसदी युवाओं ने 15 साल से भी कम उम्र में पहली बार स्वाद चखा था और 28 फीसदी ने 16 से 20 साल की उम्र में। इसी प्रकार नशा-मुक्ति के केन्द्रों के 11 फीसदी मरीजों ने 15 साल की उम्र से पहले ही भांग खाना शुरू कर दिया था और 9 से 12 फीसदी ने 15 साल से कम उम्र में ही अफीम और हेरोइन का स्वाद चख लिया था। भारत जैसे युवा देश में किशोरों के अवमूल्यन की यह प्रवृत्ति खतरे की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करती है।

### नारी का वस्तुकरण—

‘यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः’ हमारी इस प्राचीन भारतीय धारणा पर वैश्विक पूंजीवादी समूहों का भयंकर आक्रमण जारी है। नवपूंजीवादी समाज लाभ विश्वासी है और मानता है कि लाभ का लोभ करना अक्लमंदी की निशानी है। फलतः यह नारी, उसकी देह, बुद्धि व सौन्दर्य को भी बाजार में ज्यादा से ज्यादा भुनाने में लगा है। हीरो साइकिल से लेकर मेन्स अंडरवियर तक के विज्ञापन में एक खूबसूरत लड़की जरूर देखी जा सकती है। लाभ प्रेरित इस खेल के कारण भारतीय संस्कृति व समाज में कई नकारात्मक प्रवृत्तियाँ उभर कर सामने आयी हैं—

1. भारतीय महिलाएँ आत्महीनता की शिकार देखी जा सकती हैं। पुरुष वर्चस्ववाद की तरह नव पूंजीवादी दुनिया ने भी महिलाओं के मनोविज्ञान पर यह गढ़ दिया है कि पुरुष के बिना उनका कोई अस्तित्व नहीं है। कम से कम 56 प्रतिशत महिलाओं द्वारा घरों में पुरुषों द्वारा पीटे जाने को न्यायसंगत ठहराना यही सिद्ध करता है।

2. सफलता की अंधी दौड़ में भागती महिलाएँ सफलता पा जाती हैं, लेकिन परिवार व रिश्तों के मध्य संतुलन न स्थापित कर पाने के कारण जिंदगी से बेजार हो रही हैं। सफल महिलाओं की आत्महत्या

की लंबी फेहरिस्त है। वर्ष 2001 की विश्व मानसिक स्वास्थ्य रिपोर्ट के मुताबिक अवसादग्रस्तता (लंबे समय से निरंतर मायूसी की मनोदशा) 15 से 44 आयु वर्ग की स्त्रियों में सबसे बड़ी बीमारी है।

3. महिलाओं को भोग की वस्तु के रूप में प्रक्षेपित किये जाने व इसके फलस्वरूप यौन-कुंठा की नकारात्मक अभिव्यक्ति के अपराधों में इजाफा हुआ है। राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड्स के मुताबिक, भारत में बलात्कार के मामले 1999 में 15,649 से 64 फीसदी बढ़कर 2000 में 16,946 हो गये। महिलाओं के विरुद्ध केवल बलात्कार ही एक गंभीर अपराध नहीं है। यौन-उत्पीड़न, विवाहित जीवन में जबरन सहवास, छेड़खानी या कपड़े खींचकर बेइज्जत करना और बलात्कार के प्रयास जैसे दूसरे अपराध भी महिलाओं के साथ किये जाते हैं।

4. शहर और गाँव की युवतियाँ आज मीडिया द्वारा रचित एक ऐसी महिला की आकृति को आदर्श मान बैठी हैं, जो अप्राकृतिक रूप से दुबली व दुर्बल है। पश्चिमी देशों का ‘नर्वासाएनारेक्सिया’ नाम का रोग, जो पहले वहाँ की महिलाओं में पाया जाता था, अब हमारे देश में भी काफी फैल चुका है। इस रोग से ग्रसित लड़कियाँ इतना कम खाने लगती हैं कि कुपोषण बढ़ते-बढ़ते जानलेवा बन जाता है। आज मीडिया के प्रचार और प्रसार से मिस वर्ल्ड और मिस यूनीवर्स बनने की इच्छा हमारी हर गाँव की लड़की के मन में भी है।

5. आज लड़कियाँ समाज में त्याज्य हैं क्योंकि वे नवपूंजीवादी जीवन-दर्शन में लाभ प्रेरित नहीं हैं। संवेदना और भावना का स्थान धन एवं शक्ति ने ले लिया है। इसका दुष्परिणाम इस रूप में सामने आया है कि ग्रामीण, गरीब एवं अशिक्षित इलाकों में भी लड़कियों से भेदभाव किया जाने लगा है।

### पुरुषों में बदलाव—

भूमण्डलीकरण के द्वारा भारतीय समाज में

जो नये बदलाव आये हैं, निश्चित रूप से पुरुष भी इनसे अछूते नहीं रहे हैं। साधारणतया सौन्दर्य नारी से संबंधित माना जाता था, लेकिन अब पुरुषों का रुझान भी सुन्दर दिखने की ओर बढ़ा है। भारतीय पुरुषों में अपने बालों की लटों को खास रंग में रँगवाने, त्वचा को नम रखने और सौन्दर्य प्रसाधनों का इस्तेमाल करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। बाजार ने अपना निशाना पुरुषों को भी बनाया है। अब बाजार पुरुषों के अनुसार सौन्दर्य उत्पादों को लांच कर रहे हैं। पुरुषों के लिये विशेष रूप से तैयार ये उत्पाद बहुत लोकप्रिय भी हो रहे हैं। फेयरनेस क्रीम का बाजार 930 करोड़ रुपये का है और उसमें 270 करोड़ रुपये का बाजार केवल मर्दों की क्रीम का है। पुरुषों में सौन्दर्य के प्रति जागी यह ललक भूमण्डलीय चरित्र की है। ए0सी0 नेल्सन द्वारा 2004 में किये गये 'व्हाट्स हॉट अराउंड द ग्लोब' (दुनिया में किसकी धूम है) अध्ययन के अनुसार, दुनिया भर के पुरुष अपनी छवि निखारने पर ध्यान दे रहे हैं; जिसमें सौन्दर्य प्रसाधनों की बिक्री बढ़ी है। सौन्दर्य बोध के अतिरिक्त खुली अर्थव्यवस्था के इस दौर में पुरुष भी युवा और चुस्त दिखने की होड़ में शामिल हो गये हैं। दिल्ली, मुम्बई, बेंगलूर और कोलकाता जैसे महानगर हों या फिर लखनऊ, भोपाल, जयपुर और पटना.....। शहर के पार्कों में टहलने वालों की भीड़ पिछले कुछ सालों में तेजी से बढ़ी है। पौ फटने से पहले ही पी.टी. शू डाले और ट्रैक सूट पहने लोग पार्क में टहलते और वाहनों से खाली सड़कों के किनारे दौड़ते देखे जा सकते हैं। जिम में भी ऐसी भीड़ है और ब्यूटी पार्लरों और मसाज सेन्टरों पर भी। योग केन्द्र भी भीड़ से अछूते नहीं हैं। विभिन्न कॉलोनियों में लोग सुबह-सुबह ही किसी न किसी पार्क में सामूहिक रूप से हँसते हैं ताकि चेहरे से तनाव भागे और आभामण्डल कांतिमय हो। युवा दिखने की एक होड़ सी शुरू

हो गयी है।

पुरुषों में आये इस नये बदलाव के पीछे अलग-अलग कारण माने जाते हैं। दिल्ली के सेंटर फॉर डेवलपिंग सोसाइटीज से संबंधित समाजशास्त्री धीरूभाई सेठ कहते हैं— अब हर व्यक्ति औरों से अलग दिखना और अपनी अलग पहचान बनाना चाहता है। मौजूदा समय में जो माहौल है और उन्मुक्त अर्थव्यवस्था का जो दौर शुरू हुआ है, उसमें यह जरूरी हो गया है कि आप युवा और स्मार्ट दिखें। अब लोग आये दिन पुरानी नौकरियाँ छोड़ते हैं, नई नौकरियाँ तलाशते हैं। ऐसा सफर करने वालों के लिये यह जरूरी है कि वे शारीरिक रूप से जवां मर्द सरीखे नजर आयें। वहीं इस बदलाव को मूल्यों के क्षरण के रूप में भी देखा जाता है। यह *पंप एंड शो* की बात है। जब आदमी के आंतरिक मूल्य समाप्त हो जाते हैं तभी वह दिखावे की ओर उन्मुख होता है और लोगों को खुद की ओर आकर्षित करने के बहाने तलाशता है। पुरुषों में आ रहा यह परिवर्तन निश्चित रूप से भूमण्डलीकरण की देन कहा जा सकता है जो व्यक्तित्व के आन्तरिक मूल्य के स्थान पर उसके बाह्य स्वरूप को अपेक्षाकृत अधिक महिमामंडित करता है।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि भूमण्डलीकरण ने मानव जीवन के प्रत्येक पहलू को प्रभावित किया है। संप्रति हम एक नए मूल्य संकट के दौर से गुजर रहे हैं। महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि कभी समाप्त न होने वाली भारतीय सभ्यता और संस्कृति इस मूल्य संकट का सामना कैसे करे? •

(अगले लेख में इस मूल्य-संकट के समाधान का उल्लेख प्रस्तावित है। मूल्य-संकट के इस दौर में सामूहिक चिंता, चिंतन एवं चेतना में आपकी प्रतिक्रिया, आलोचना, सुझाव एवं टिप्पणी का सादर आमंत्रण है।)

# गौरवशाली संस्कृति

डॉ० रजनीश कुमार शुक्ल

भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृति है। इसके साथ ही अन्य संस्कृतियाँ या सभ्यताएँ चाहे वह यूनानी सभ्यता हो या मिस्री सभ्यता, आज अपने मूल स्वरूप में प्राप्त नहीं हैं। उनके स्वरूप का आकलन पुरातात्विक अवशेषों या लिखित अभिलेखों से ही हो पाता है। किन्तु भारतीय संस्कृति में एक अविच्छिन्नता है, इसका कारण है कल्पना और यथार्थ का लगभग सरूप आदर्श प्रस्तुत कर, समाज का व्यवस्थापन तथा उसको उदात्त लक्ष्य की ओर प्रेरित करना। भारतीयता की इस शाश्वत विकास यात्रा का रहस्य, मानव के आचार व्यवहार का यथासंभव सीमा तक सुव्यवस्थापन, तर्क एवं श्रद्धा का समन्वय कर, सन्तुलित और सोद्देश्य जीवन प्रणाली की स्थापना में है। भारतीयता एक सनातन यात्रा है, एक अमृत पंथ है, जो अनादि से अनन्त तक विस्तृत है। भारत की आत्मा या भारतीयता को मात्र इतिहास के दिशा सन्दर्भों में नहीं समझा जा सकता है, क्योंकि भारतीय संस्कृति का इतिहास घटनाओं और तथ्यों का पुंज मात्र नहीं है। प्रत्येक घटना, प्रत्येक काल का इतिहास एक मूल्यदृष्टि का सृजन करता है जो देशानुकूल, कालानुकूल व्यावहारिक परिवर्तनों के साथ ही सत्य की खोज एवं उसकी प्राप्ति के आग्रह से युक्त हो सर्वतो भावेन लोकमंगल के लिये प्रयासरत समष्टि जीवन का मूल्याधिष्ठित स्वरूप प्रस्तुत करता है। भारतीय संस्कृति एवं परंपरा को इन सन्दर्भों में ही समझा जा सकता है।

## संस्कृति की अवधारणा

संस्कृति अपने कलेवर में जीवनविधा तथा विचारविधा के समस्त आयामों जैसे व्यक्ति से व्यक्ति के संबंध, धर्म, कला, साहित्य, विश्राम एवं मनोरंजन

की विधि, समाज का व्यवस्थापन, जीवनमूल्य इत्यादि से व्यक्त होने वाली समष्टिगत प्रकृति को समाविष्ट करती है। अतः इसकी कोई सरल परिभाषा संभव नहीं है। किन्तु यह एक अवधारणात्मक तथ्य है जो ऐतिहासिक विकास में किसी भूमि पर बसने वाले जनसमूह की विशिष्टता को व्यावर्तित कर, उसे अन्य भूमि के जन से पृथक् करती है। इसलिये उसको किसी भूमि पर लम्बे समय से निवास कर रहे जन समूह के चिति के रूप में समझा जा सकता है। अर्थात् समष्टिगत अनुभव को जो ऐतिहासिक विशिष्टता से युक्त होता है, संस्कृति कहा जा सकता है।

इस स्पष्टीकरण की भी अपनी सीमा है। व्यक्ति से अतिरिक्त समाज का अस्तित्व नहीं होता है, अतः व्यक्तियों से पृथक् समाज की कल्पना नहीं की जा सकती है। इस समस्या का पश्चिम की तर्कणा पद्धति से कोई उत्तर नहीं प्राप्त हो सकता है। शायद यही कारण रहा होगा कि भारतीय वाग्मय में समाज की उत्पत्ति को तर्क से सिद्ध करने की चिन्ता न करके, यह मान लिया गया है कि यह विश्व तथा समाज अनादि है और इसी सामाजिक एवं सांकेतिक विश्व में मनुष्य अपने मौलिक संस्कार अर्जित करते हैं और उसे चिरकाल से एक सनातन आदर्श व्यवस्था का लौकिक अनुकरण समझा जाता है।

अर्थात् संस्कृति किसी समाज के मानस पर पड़ने वाले प्रभावों की ऐसी प्रवृत्ति का द्योतक है, जो विशेषतः उसकी अपनी होती है और पुनः उसके समस्त इतिहास में उसके भावों, उद्देश्यों, विचार वाणी एवं कर्म का संयुक्त तथा संचित प्रभाव होती है। संस्कृति विशिष्ट आत्मचेतना है, जिसको सामाजिक



अनुभव का विश्लेषण कर, संकल्पनाओं प्रतीकों और मूल्यों, दृष्टिकोणों तथा मनोवृत्तियों के रूप में ढाला जाता है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि संस्कृति समष्टिगत समान अनुभव से उत्पन्न होती है। एक ही जलवायु में पले, एक ही प्रकार के पर्वतों, नदियों, झरनों तथा सागर को देखने वाले एक ही प्रकार की ऐतिहासिक परंपरा का वहन करने वाले, समान पूर्वजों की सन्तान समझने वाले ऐसे समूह को एक संस्कृति वाला कहते हैं, जो इन सबके साथ समान रूप से मानापमान का अनुभव करे।

### भारतीय संस्कृति

यह स्पष्ट हो चुका है कि संस्कृति उस दृष्टिकोण को कहते हैं, जिससे कोई समुदाय विशेष जीवन की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करता है और जीवन लक्ष्य को निर्धारित करता है। अतः भारतीय संस्कृति के स्वरूप को समझने के लिये उसकी विशिष्ट संकल्पना, प्रतीक तथा मूल्यों एवं मनोवृत्तियों को विश्लेषित कर समझना आवश्यक है।

भारतीय संस्कृति शब्द से एक विशिष्ट भू-सांस्कृतिक क्षेत्र का बोध होता है। अर्थात् भारत नामक वह भू-भाग जो इतिहास के प्रारंभ के साथ, पूर्वोक्त विशिष्टताओं से युक्त है। भारत भूमि पर रहने वाले जन समूह ने इतिहास के प्रारंभ से वर्तमान तक बहुत कुछ समान अनुभव अर्जित किये हैं। इन अनुभवों से जिन संस्कारों का निर्माण हुआ है, जो वैचारिक दृष्टिकोण विकसित हुआ है, उन सबका द्योतन संस्कृति में होता है। इस संस्कृति की अभिव्यक्ति धर्म, वाङ्मय, विज्ञान-तकनीक, कला, राज व्यवस्था सभी में स्पष्ट रूप से होती है। लौकिक एवं पारलौकिक स्तर पर, व्यक्ति एवं समष्टि के स्तर पर इस

विशिष्टता का पूरी स्पष्टता के साथ अनुभव किया जा सकता है।

श्री अरविन्द ने संस्कृति के वैशिष्ट्य को रेखांकित करते हुए कहा है कि— ज्ञान, विज्ञान, कला, चिन्तन और नैतिकता, दर्शन, धर्म ये मनुष्य के वास्तविक व्यापार हैं और उसी से संस्कृति रूप ग्रहण करती है। इसे भारतीय संस्कृति के सन्दर्भ में देखना होगा।

भारतीय संस्कृति का वैशिष्ट्य उसकी परिष्कारवादी विधि में है। यह एक ऐसी सामूहिक जीवन प्रणाली है, जो प्रकृति प्रदत्त पदार्थों को निरन्तर संस्कारपूर्वक सर्वश्रेष्ठ रूप में प्राप्त करने का प्रयास करती है। इस सर्वश्रेष्ठता की पूर्णता एक ऐसे अखण्ड बोध की प्राप्ति है, जिसमें जगत की समस्त वस्तुएं अंगांगी भावपूर्वक मनुष्य और उसके समस्त व्यापार एक दूसरे के पूरक बन कर, अपनी सार्थकता प्राप्त करते हैं। भौतिक, आध्यात्मिक एवं नैतिक, समस्त आयाम एक दूसरे के अवरोधपूर्वक सामंजस्य की प्राप्ति के लिये अपने व्यापारों को संस्कारित करने का जो प्रयास करते हैं, उसी का नाम भारतीय संस्कृति है। यह काल की एक ऐसी सनातन यात्रा है, जिसमें इतिहास की इयत्ता उसके मूल्यबोध अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। अर्थात् घटना प्रधान काल के इतिहास के स्थान पर घटना से प्राप्त होने वाली शिक्षा या उपदेश अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

प्रथमतः यह बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि भारतीय संस्कृति अत्यन्त आशावादी जीवन पद्धति है इसमें जीवन का उद्देश्य ही आनन्द की प्राप्ति है। तैत्तिरीयोपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है, कि 'कोई क्यों जीवित रहता, कोई क्यों सांस भी लेता यदि आनन्द न होता' अर्थात् जीवन पर्व है, उसको अनुष्ठित करने के लिए, ठीक से

जीवन जीने के लिए, जो दत्त जीवन है, जिसमें मनुष्य एवं पशु के बीच कोई अन्तर नहीं है अर्थात् मौलिक आवश्यकताओं की दृष्टि से पशु एवं मनुष्य दोनों समान हैं, जिसमें सभी भोजन करते हैं, सोते हैं, भय होता है और यौन सुख की अभिलाषा होती है। इस समानता को तोड़कर मनुष्य को श्रेष्ठ बनाने के लिये संस्कारों की आवश्यकता होती है। यही संस्कार की प्रणाली धर्म के नाम से भी जानी जाती है। संस्कारित होना तथा संस्कारित करने की परंपरा को आगे बढ़ाना, सब तक पहुँचाना ही संस्कृति है।

इस व्यापक दृष्टिकोण पर विचार किया जाय तो भारतीय संस्कृति जीवन के समस्त आयामों में विस्तार प्राप्त करने वाली प्रणाली या जीवन विधि है। यह किसी निश्चित विशिष्टता से युक्त होने तथा धरती की शेष संस्कृतियों से अलग होने के कारण महत्त्वपूर्ण नहीं है। अपितु इसलिये महत्त्वपूर्ण है कि इस संस्कृति में युगानुकूल देशानुकूल परिवर्तनों को स्वीकार करते हुए अपनी नित्य जीवन दृष्टि या मूल्य प्रणाली को संरक्षित करने की क्षमता है। इसलिये भारतीय संस्कृति विश्ववारा संस्कृति है। काल के थपेड़ों के साथ इसमें क्षरण तो संभव है, किन्तु यह मर नहीं सकती, यह अमर संस्कृति है। क्योंकि यहां मान्यता है कि न तो राज्य अपेक्षित है न ही मोक्ष अभीष्ट है। अपेक्षा है, कामना है, तो मात्र इतनी कि कोई दुःखतप्त न रहे। अर्थात् दुःखी लोगों के कल्याण के लिये सब कुछ, यहां तक कि अपना जीवन भी समर्पित करने की कामना ही, प्रति क्षण संस्कार के परिष्कार का आदर्श है।

इसको अत्यन्त संतुलित शब्दों में प्रस्तुत करते हुए प्रसिद्ध इतिहासकार एवं संस्कृतिविद् प्रो० राधाकमल मुखर्जी कहते हैं कि— “व्यक्ति का लक्ष्य है प्रवीणता की प्राप्ति तथा समाज

का लक्ष्य है संस्कृति की उपलब्धि, दोनों लक्ष्य एक ही हैं, पूर्ण सन्तुलित एवं व्यावहारिक हैं।” यहां प्रवीणता जीवन में सदगुणों का विकास ही है।

### भारतीय संस्कृति के मानदण्ड

विशाल एवं उदात्त जीवन पद्धति होने के नाते भारतीय संस्कृति को एक विशेष प्रकार की अमूर्तता प्राप्त हो जाती है। जगत् में मनुष्य का कोई व्यापार या व्यवहार नितान्त एकाकी एवं अन्य से नितान्त अलग क्रिया नहीं है। किन्तु इस मान्यता के कारण अनेक दृष्टियाँ या मत संभव हैं, यद्यपि कि यह भी भारतीय संस्कृति का एक वैशिष्ट्य ही है कि इसमें मनुष्य को अपनी दृष्टि के निर्माण का व्यापक स्वातन्त्र्य प्राप्त है। किन्तु सामान्य बोध की दृष्टि से भारतीय संस्कृति के कुछ अवधारणात्मक संप्रत्ययों को अवश्य गिनाया जा सकता है। जो समग्र भारतीय संस्कृति के मानदण्ड के रूप में समझे जायें और भारतीय दृष्टि से सुसंगत मानव व्यवहार में इसका प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सके। इस दृष्टि से कुछ प्रमुख अवधारणायें निम्नवत हैं—

- (1) जीवन की पूर्णता एवं इस जीवन की नश्वरता का बोध
- (2) कर्म के प्रति जोर तथा नैतिक सिद्धांतों की सर्वव्यापिता
- (3) मानव मात्र की एकात्मता में विश्वास
- (4) उत्तरदायित्व की पवित्रता
- (5) करुणा का आदर्श
- (6) मनुष्य की सर्वविध उन्नति पर जोर
- (7) भू-सांस्कृतिक राष्ट्रीयता

इन पर अलग-अलग विचार किया जाय तो ये विशिष्टतायें सार्वभौम एवं मानव मात्र के लिये अपेक्षित हैं, वरेण्य हैं, ऐसा प्रतिपादित किया



जा सकता है। यद्यपि कि ऐसा प्रतिपादन सर्वथा संभव है और अपेक्षित भी है। किन्तु भारतीय संस्कृति के वैशिष्ट्य प्रतिपादक मानदण्ड के रूप में इसे इसलिये प्रस्तुत करना आवश्यक है कि भारतीय संस्कृति ही एक मात्र ऐसी संस्कृति है, जिसमें ये सभी एक साथ तथा अत्यन्त प्राचीन ऐतिहासिक परंपरा में प्राप्त होते हैं।

### जीवन की पूर्णता एवं इस जीवन की नश्वरता बोध

भारतीय संस्कृति का सर्वाधिक विचित्र पक्ष मानव जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण है। एक तरफ जीवन को नश्वर तथा मनुष्य को मरणधर्मा मान कर जीवनोत्तर व्यापारों के लिये व्यापक अवकाश प्रदान किया गया है। वहीं दूसरी ओर इसकी सर्वविध रक्षा के प्रयत्न का उपदेश दिया गया है। कठोपनिषद् में यम और नचिकेता के विख्यात संवाद में जीवन और मृत्यु के रहस्यों का अत्यन्त गंभीर विवेचन प्राप्त होता है। यह विवेचन भारतीय संस्कृति का जीवन के प्रति एक समग्र दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। जीवन अखण्ड है, जीवन निरन्तर है, यह भारतीय संस्कृति का अत्यन्त विशिष्ट प्रतिपाद्य है। अर्थात् मृत्यु सत्य है किन्तु यह समस्त जीवन की समाप्ति नहीं है। बल्कि इस जीवन से दूसरे जीवन की ओर होने वाली यात्रा मात्र है।

यह जीवन, अर्थात् शरीर में बंधा हुआ वर्तमान जीवन, जो शरीर के नष्ट होने के साथ समाप्त हो जाने वाला है, शरीर की दृष्टि से नश्वर है। इसका उद्देश्य और लक्ष्य कर्म साधना मात्र है। इसलिये इस नश्वर जीवन को अत्यन्त सचेत रूप से कर्मयज्ञ में समिधा (हवन सामग्री आदि) के रूप में झोंक देने की साधना ही जीवन यज्ञ है। किन्तु यज्ञ बिना दक्षिणा के पूरा नहीं होता इस लिये शरीर में बंधे जीवन की

आहुति देने के बाद भी तप, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्य को बचाकर जीवन की निरन्तरता में प्रवाहित करना, जीवन यज्ञ की दक्षिणा है। इसके लिये शरीर में बंधा जीवन आवश्यक साधन है। अर्थात् मनुष्य का मरणधर्मा होना सत्य है, किन्तु मरणधर्मी मनुष्य को भी मानव-कर्तव्यों की पूर्ति के लिए शरीर को साधन के रूप में स्वीकार करना होगा। इसलिये शरीर को भी साधन मूल्य के रूप में अनिवार्य रूप से ग्रहण करना पड़ता है।

यद्यपि कि भारत को इस जीवन की नश्वरता का ज्ञान प्रारंभ में ही था। किन्तु यही नश्वर जीवन, इस नश्वरता के बोध और भय से मुक्ति का माध्यम भी है। इसलिये इसको पर्याप्त महत्त्व दिया गया है— इस जीवन की सर्वाधिक मूल्यवत्ता है क्योंकि यहीं से यह प्रयास और प्रार्थना की जा सकती है कि— मुझे असत् से सत् की ओर ले चलो, अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो, मृत्यु से अमरत्व की ओर ले चलो।

इस प्रकार इस जीवन को मृत्यु-दोष से युक्त मानने के बाद भी इसे त्यागने और उपेक्षित करने की वृत्ति का भारतीय संस्कृति धारा में स्पष्टतः विरोध है। जैसा कि ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है कि “केवल कर्म करते हुए ही एक सौ वर्ष की आयु तक मनुष्य को जीवित रहने की आशा करनी चाहिए।”

यह दृष्टि जीवन की पूर्णता के प्रतिपादन का आधार है। कर्म करना है और कर्म के लिये शरीर साधन आवश्यक है। इस हेतु शरीर की किसी विधि रक्षा करना भी परम धर्म है जैसा कि महाभारत में भीष्म ने युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए कहा है कि “जीवन जिस प्रकार से सुरक्षित रहे, उस प्रकार का प्रयत्न बिना किसी अवहेलना



के करना चाहिए। मरने से जीवित रहना श्रेष्ठ है, क्योंकि जीवित पुरुष पुनः धर्म का आचरण कर सकता है।

यह जीवन धर्म के आचरण का आधार है। धर्म भी मात्र आध्यात्मिकता नहीं है। इसकी पूर्णता तभी है, जब मानव जीवन के सभी पक्षों, भौतिक, नैतिक, भावात्मक तथा आध्यात्मिक का सम्यक् विवेचन एवं उनकी पूर्ति का प्रयास हो।

इस के लिए भारत में कर्मवादी दृष्टि अत्यन्त प्रखरता से प्रतिपादित की गयी है। कर्ममीमांसा का एक महत्त्वपूर्ण निकाय ही विकसित हुआ। गीता में श्रीकृष्ण स्पष्ट रूप से कहते हैं कि बिना कर्म के किसी भी व्यक्ति का एक क्षण भी स्थित रहना संभव नहीं है।

देश या भूमि पर विचार करते हुए भी भारतवर्ष को कर्म क्षेत्र के रूप में प्रतिपादित किया गया है। यहाँ यह स्पष्ट मान्यता रही है, और है कि इस लोक में विश्राम नहीं है, यहाँ तो जीवन भर कर्म करते रहना चाहिए। कर्म ही संसार चक्र की गति को जारी रखता है और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ओर से पूरा प्रयत्न कर इसकी गति को जारी रखना चाहिए।

कर्म के प्रति यह जोर कर्म-परिणाम की दृष्टि से नैतिकता के आधार भूत सिद्धान्तों की अपेक्षा करता है। भारतीय संस्कृति इस दृष्टि से भी विशिष्ट है कि यहां कर्म या मानवाचरण को नियमित करने के लिये नैतिक उपदेशों की अपेक्षा नियामक सिद्धान्तों का प्रवर्तन दुनिया में प्रथम बार किया गया। यद्यपि नैतिक आचरण का वर्णन भी दुनिया की किसी भी अन्य संस्कृति से अधिक विपुल और व्यापक है। किन्तु सामान्य नियामक सिद्धान्तों की प्रस्तुति विश्व में प्रथम बार की गयी है। अर्थात् हमें क्या करना चाहिए या मनुष्य के लिये क्या-क्या करणीय है अथवा

क्या अकरणीय? इसकी लम्बी सूची गिनाने की अपेक्षा किस प्रकार कर्म करने चाहिए कि वे नैतिक कर्म हों, यह प्रमुख प्रतिपाद्य है। यह इस समस्या से जुड़ा है कि किस प्रकार कर्म से उत्पन्न होने वाले परिणाम बन्धनों से मुक्त रह सकें।

इस पर गहराई से विचार किया जाय, तो यह ध्यान में आयेगा, कि प्रकृति नियन्त्रित अथवा ईश्वर नियन्त्रित कर्म सिद्धान्त की अपेक्षा कर्म स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन तथा उसे धर्माचरण का भाग बनाना भारतीय संस्कृति का वैशिष्ट्य है। इसको नीति दर्शन की तुला पर मूल्यांकित करते हुए डॉ. एस. राधाकृष्णन् कहते हैं कि कर्म केवल अवस्था मात्र है यह नियति नहीं है। कर्म की सिद्धि के लिए पाँच अवयवों का होना आवश्यक है। ये हैं अधिष्ठान अथवा आधार, या ऐसा कोई केन्द्र जहाँ से कर्म किया जा सके, कर्ता अर्थात् कर्म करने वाला, करण अर्थात् प्रकृति का साधन, चेष्टा अर्थात् प्रयत्न या पुरुषार्थ और दैव अथवा भाग्य।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि नियति या भाग्य मनुष्य के कर्म का एक आयाम या अवयव मात्र है, उसके कर्म को नियन्त्रित करने वाली अन्तिम सत्ता नहीं। इसलिये मनुष्य को कर्म करने तथा कर्मों का चयन करने की पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त है।

इस प्रकार किसी भी प्रकार के भाग्यवाद का यहाँ स्पष्ट निषेध भी परिलक्षित होता है।

कर्म के इस स्वातन्त्र्य और इसके नियामक स्वरूप का वर्णन करते हुए डॉ. राधाकृष्णन् कहते हैं कि— जिससे हमारा ईश्वर, मनुष्य और प्रकृति के साथ यथार्थ एक्य अभिव्यक्त हो, वही शुद्ध आचरण है और अशुद्ध आचरण वह है जो



यथार्थता के इस अनिवार्य संगठन के प्रतिपादन में असमर्थ है। विश्व का एकत्व आधारभूत सिद्धान्त है। जिससे पूर्णता की प्रगति हो सके, वही पुण्य है और जिसकी इससे संगति न बैठे वह पाप है।

कर्म के इस सिद्धान्त के प्रति मुक्त एवं बद्धपुरुष, पूर्णता को प्राप्त पुरुष को भी लोकसंग्रह की भावना से कार्य करना चाहिए और संसार मात्र के कल्याण को अपना लक्ष्य बनाना चाहिए। श्रमण धारा में भी बोधिसत्त्व का यही आदर्श है कि जब तक पृथ्वी पर एक भी व्यक्ति कलि के कलुष से दुःखतप्त है, उसे निर्वाण नहीं चाहिए।

इस नैतिकता के नियामक सिद्धान्त के पीछे ऋत् की अत्यन्त प्राचीन व्यवस्था है। नैतिक पूर्णता एवं कर्म सिद्धान्त के बीज इसी में निहित हैं। जो आदमी जैसा काम करता है और जिस प्रकार का जीवन बिताता है, उसी के अनुसार वह बन जाता है। इसको व्याख्यायित करते हुए कहा गया है कि— मनुष्य स्वयं इच्छानुसार अपना निर्माण करता है और उसी की इच्छा के अनुसार उसका निश्चय होता है तथा अपने निश्चय के अनुसार वह कार्य करता है, और उसके कार्यों के अनुसार उसका प्रारब्ध होता है।

यह संकल्प एवं कर्म की स्वतन्त्रता का वो उच्चतम आदर्श है, जो अन्य किसी ऐतिहासिक संस्कृति में उपलब्ध नहीं होता तथा वर्तमान सांस्कृतिक समूहों में भी कठिनाई से प्राप्त होता है।

### एकात्मवाद

लोकसंग्रह का भाव या कर्म की पूरी स्वतन्त्रता के बाद भी अनिवार्य रूप से श्रेष्ठ कर्म का ही चुनाव एक ऐसी लोकोत्तर मान्यता पर प्रतिष्ठित है, जिसे एकात्मभाव या सर्वात्मभाव

का सिद्धान्त कहा जा सकता है। भारतीय संस्कृति की चिति, उसके द्वारा प्रस्तुत सबमें एक ही आत्मा के होने की मान्यता है। इसका स्पष्ट रूप उपनिषदों में देखा जा सकता है। ईशावास्योपनिषद् के प्रथम मन्त्र में ही कहा गया है कि इस संसार में जो कुछ है वह सब ईश्वर का प्रकाश है। अर्थात् सभी सांसारिक पदार्थ एक ही अद्वैत विश्वातीत, किन्तु सर्वव्यापी तत्त्व की अभिव्यक्ति है। वही तुरीय तत्त्व समस्त ब्रह्माण्ड के साथ एकाकार हो करके, अविद्या और मोह के बल पर सुख की स्थूल वस्तुओं का अनुभव करता है। इस महनीय सिद्धान्त के आधार पर ही भारतीय संस्कृति में मानव मात्र को ज्ञान प्राप्त करने तथा सर्वोच्च लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति करने का अधिकार दिया गया है। यह अद्वैतवाद में अपनी चरम परिणति प्राप्त करता है। जो समस्त विश्व के विभेदों में एक परम सत् में अनन्त विश्व का भेद खोजने की दृष्टि है।

### उत्तरदायित्व की पवित्रता

जिस प्रकार के कर्मवाद की प्रतिष्ठा भारतीय संस्कृति में की गई है और कर्म को मुक्ति के साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। उससे यह सम्भावना बनती है कि व्यक्ति समस्त कर्मों को अपनी व्यक्तिगत मुक्ति के लिये करेगा। किन्तु यह संकट भारतीय जीवन-पद्धति में खड़ा नहीं होता है, क्योंकि यहां उन सभी संभावनाओं को समाप्त करते हुए दायित्व के भाव की सहज प्रतिष्ठा के लिये आनृण्य 'ऋण मुक्त होना' व्यवस्था का प्रतिपादन किया गया है। यह चिन्तन अपने ढंग का अद्वितीय है और विश्व की किसी अन्य संस्कृति में प्राप्त नहीं होता है। आनृण्य व्यवस्था व्यक्ति को माता, पिता के प्रति, गुरु के प्रति, देवताओं के प्रति कृतज्ञता के भाव को उत्पन्न करते हुए उनमें जो



कुछ प्राप्त हुआ उससे उद्धार होने की प्रस्तावना प्रस्तुत करती है। इस व्यवस्था की विशिष्टता यह है कि जिससे ऋण प्राप्त है। उसे नहीं लौटाना है अपितु उसके लिये अन्य को लौटाना है। यह समष्टि के प्रति कृतज्ञता का भाव है। इस व्यवस्था के फलस्वरूप मनुष्य अपने समस्त कर्तव्यों की पूर्ति के लिये उत्तरदायी बनता है और अपने उत्तरदायित्व की पूर्ति में अक्षम होने पर वह पाप का भाजन तो होता ही है, लोक निन्दा का भी पात्र बनता है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को जो गृहस्थ है जिसके भरण-पोषण की व्यवस्था सुनिश्चित हो गयी है, कुछ ऋणों को पूरा करने के लिये उत्तरदायी ठहराया गया है। इसे अत्यन्त अनिवार्य कर्तव्य के रूप में प्रतिपादित करते हुए कहा गया है, जो गृहस्थ है अर्थात् जिसका उत्पादन व्यवस्था में सहकार है, जिसने समाज से अपना प्राप्तव्य प्राप्त कर लिया है। उसका समाज के प्रति यह दायित्व है कि वह उसके भरण-पोषण एवं अभ्युन्नति के लिये प्रयास करे। इस प्रयास को यज्ञ के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है। प्रत्येक गृहस्थ की यह जिम्मेदारी है कि वह अपने दिन-प्रतिदिन के जीवन में तीन महत्त्वपूर्ण यज्ञों को स्थान दे। ये यज्ञ हैं, ब्रह्म यज्ञ अर्थात् अध्यापन, इस अनादि विश्व में अनेकों प्रयास से जो ज्ञान का विकास हुआ है और व्यक्ति तक पहुँचा है, उसे आगे संक्रांत करना, विकसित करना और अगली पीढ़ी तक पहुँचाना प्रत्येक का कर्तव्य है। जो इस कर्तव्य का पालन नहीं करता है, वह ज्ञान का द्रोही है, ब्रह्मदोषी है। इसी प्रकार पितृयज्ञ अर्थात् तर्पण और प्रजापालन अर्थात् अतिथि सेवा, मानव सेवा, यह मानव का परम उत्तरदायित्व है। प्रतिदिन, प्रत्येक व्यक्ति भोजन के पूर्व एक निश्चित समय सीमा तक, भोजन के पूर्व घर के

बाहर, खड़ा होकर, किसी अतिथि की प्रतीक्षा अवश्य करे, जिसे भोजन करा कर, वह अपने नृयज्ञ की पूर्ति की दिशा में, एक सार्थक प्रयास को सम्पन्न कर सके। मनुष्य को इस प्रकार की उदात्त भावना से प्रेरित करने की व्यवस्था मात्र भारतीय संस्कृति में ही प्राप्त होती है। अतिथि का स्वागत परम कर्तव्य है, और जो मनुष्य अतिथि का स्वागत नहीं करता है, वह घोर एवं गंभीर पाप का भागी होता है। इसका विस्तृत वर्णन करते हुए मार्कण्डेय पुराण में कहा गया है कि जो गृहस्थ अतिथि का सत्कार नहीं करता है वह स्वयं केवल पाप का भक्षण करता है। यह व्यवस्था मानव के भाव पक्ष के उदात्तीकरण का अद्भुत प्रयास है। भारतीय परंपरा इस व्यवस्था के माध्यम से यात्रियों एवं यतियों के भोजनावास इत्यादि की व्यवस्था, न केवल व्यवस्था अपितु सम्मानपूर्वक व्यवस्था का प्रबन्ध करती है।

भारतीय संस्कृति में प्रत्येक व्यक्ति को देवता, गुरु तथा माता-पिता के ऋण के माध्यम से अन्यो के प्रति उत्तरदायी होने की जो व्यवस्था की गयी है, वह उत्तरदायित्व की पवित्र भावभूमि पर मानव कर्म को स्थापित करने का प्रयास है। जिसमें कोई छोटा नहीं है, जिसमें कोई अनुत्तरदायी नहीं, सभी विशिष्ट मानवीय गरिमा से युक्त हैं, प्रत्येक मनुष्य पूर्वजों से प्राप्त भौतिक आध्यात्मिक एवं अन्य उपलब्धियों को अपनी उत्तरवर्ती पीढ़ी को देने के लिये जिम्मेदार है। इस प्रकार की व्यवस्था के कारण सामाजिक अनुबन्ध और समाज के प्रति व्यक्ति का दायित्व उसका सहज भाव हो जाता है। इसके लिये किसी बाध्यतामूलक नीति की आवश्यकता नहीं होती है।

### करुणा का आदर्श

भारतीय संस्कृति की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण



विशेषता है करुणा की भावना। ऐसी भावना जो करुणा को विश्वबन्धुत्व के उत्कर्ष तक ले जाती है। मानव पीड़ा के प्रति असीम व निर्मल करुणापूर्ण चिन्ता, सार्वभौम करुणा एवं सद्भावना हमारी अनादि विशिष्टता है। सामान्य जन ने विशिष्ट करुणा, धैर्य एवं कृपा से संयुक्त बुद्ध एवं महावीर जैसे युग-पुरुषों को भगवान के उच्चासन पर बैठाकर पूजा है। अनेक स्मारकों एवं प्रतीकों में आज भी वैश्विक करुणा के ये मूर्तिमान स्वरूप पूरे देश में पाये जाते हैं।

करुणा की यह भावना मनुष्य के दैनिक व्यवहार का ही हिस्सा नहीं रही। अपितु उससे आगे बढ़ कर के यह काल एवं अन्य भावनात्मक क्रियाओं का स्थायी भाव बन गयी। करुणा को केन्द्रित करके दुनिया में कहीं भी इतनी रचनाओं की, इतने विस्तृत क्षेत्रों में प्राप्ति नहीं होती है। जहाँ मिस्री सभ्यता के कलातथ्य मिस्र के वैभव, राज के प्रताप एवं ऐश्वर्य का प्रतिबिम्बन करते हैं, वहीं ग्रीक व रोमन सभ्यता के कलावशेष नागरिक जीवन की जटिलता एवं शृंगार एवं विलास से युक्त नगर-जीवन की झलक प्रस्तुत करते हैं। इन दोनों ही सभ्यताओं के विपरीत भारतीय संस्कृति में करुणा की प्रतिष्ठा, शिव, बुद्ध, महावीर, पशुपति, प्रजापति इत्यादि की प्रतिमाओं में अपनी रचनात्मक भावभूमि से सहज ही होती है और सकल विश्व के दुःख से कातर और उसके परिहार के लिये चिन्तित मानव के उदात्त स्वरूप का दर्शन करती है।

हमारी संस्कृति में दूसरों के लिये अपने जीवन का त्याग करने की जो महनीय प्रवृत्ति पायी जाती है, वह किसी भी अन्य संस्कृति के लिये वरेण्य है। करुणा ही इस का आधार है। करुणा के भाव से अनासक्ति का उदय होता है। करुणा ने धर्म एवं कला का ऐसा गठबन्धन

किया कि कला समस्त भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों की अभिव्यक्ति बन कर उभरी। सभी कलाकृतियों में चाहे वह किसी भी पन्थ से अनुप्राणित कृति हो वही प्रेरणा, वही साधना, वही तन्मयता दिखायी देती है, जिसने पृथ्वी पर स्वर्ग निर्माण किया है।

### मनुष्य के सर्वविध उन्नति पर जोर—

करुणा के विस्तार का स्वाभाविक परिणाम था कि मनुष्य की सर्वविध उन्नति के प्रयास हुए। परिणामतः भारतीय संस्कृति का जोर मात्र मनुष्य के आध्यात्मिक और बौद्धिक जगत की सन्तुष्टि तक ही नहीं है, बल्कि उससे आगे तर्कशास्त्र, भाषा विज्ञान, आयुर्विज्ञान ज्योतिषशास्त्र एवं अन्य विज्ञानों के विकास में भी पाया जाता है। अर्थात् स्थापत्य से लेकर प्राणी विज्ञान तक सभी स्थानों पर करुणा की दृष्टि और दुःखकातर प्राणियों के दुःखमोचन का प्रयास सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है।

जैसा कि चर्चा हो चुकी है, मनुष्य का कल्याण, उसकी उन्नति मात्र आध्यात्मिक या उपासना दृष्टि से संभव नहीं है। इसके लिये उसके अन्य पक्षों का भी विस्तार आवश्यक है। भारतीय संस्कृति में यह विस्तार अत्यन्त प्रबलता एवं प्रखरता से प्राप्त होता है।

विज्ञान एवं तकनीक क्षेत्र में प्राप्त उपलब्धियाँ अत्यन्त विस्मयकारी एवं गौरवशाली हैं। भारतीयों ने गणित एवं यंत्रविद्या की नींव डाली। उन्होंने भूमि का मापन किया, वर्ष के विभाग किये आकाश का मानचित्र बनाया, सौर मण्डल के परिभ्रमण चक्र का परिशीलन किया और ग्रहों-उपग्रहों की गति का अत्यन्त सूक्ष्म सीमा तक मूल्यांकन प्रस्तुत किया।

प्रकृति विज्ञान के क्षेत्र में भी पक्षियों, पशुओं, पेड़ों पौधों और बीजों आदि तक का अध्ययन किया। चिकित्सा विज्ञान में भी ज्योतिष एवं अध्यात्म विद्या के सामान भारतीय संस्कृति



की प्रमुखता सन्देह से परे है। आयुर्वेद एवं शल्य चिकित्सा के क्षेत्र में भारतीय उपलब्धियाँ आज भी कई दृष्टियों से दुनिया के आधुनिकतम ज्ञान-विज्ञान को चकित कर देने वाली हैं।

खगोल विद्या के क्षेत्र में तो मात्र एक उद्धरण ही भारतीय सांस्कृतिक धारा के मनीषा की श्रेष्ठता को सिद्ध कर देने के लिये पर्याप्त है कि कोपरनिकस से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व (न्यूनतम) लिखे गये ग्रन्थ ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा गया है कि “सूर्य न तो कभी अस्त होता है न तो कभी उदय, जब लोग सोचते हैं कि सूर्य अस्त हो रहा है, तब वह केवल एक परिवर्तन में आता है। दिन के अन्त में नीचे के हिस्से में रात हो जाती है और दूसरी ओर दिन हो जाता है, फिर जब लोग सोचते हैं कि सूर्य उदित हो रहा है, तब वह केवल रात्रि के अन्त में पहुँच कर केवल एक परिवर्तन में आ रहा होता है और नीचे के हिस्से में दिन और दूसरे हिस्से में रात कर देता है।”

भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में भी भारत की उपलब्धियाँ अत्यन्त आह्लादकारी हैं। इसी प्रकार समाज विज्ञान के समस्त आयामों का सम्यक् विवेचन राजशास्त्र, अर्थशास्त्र एवं धर्मशास्त्रों में पाया जाता है। लोकतंत्र एवं लोकल्याणकारी-राज्य की अवधारणा भारत में ही विश्व से सबसे पुरानी है। इतना ही नहीं सर्वपन्थ-समभाव की अवधारणा को भी राज्य के नीति नियामक तत्त्व के रूप में स्वीकार करने के प्राचीनतम उदाहरण भारत में ही प्राप्त होते हैं। यदि राजनीति के क्षेत्र में अंग्रेजों के द्वारा लिखे कल्पित इतिहास से प्रभावित होकर, वेदों एवं उपनिषदों के महान युग तथा महान्तम शिक्षाओं को इस क्षेत्र में कल्पना भी मानें तो चन्द्रगुप्त मौर्य और अशोक के शासन को तो यथार्थ स्वीकार करना

ही पड़ेगा और पश्चिम में लोक कल्याणकारी राज्य एवं सेकुलर राज्य की स्थापना से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व भारत में राज्य के लोक कल्याणकारी स्वरूप एवं उसके सर्वपन्थ समभाव की दृष्टि से इन्कार नहीं किया जा सकता है।

चन्द्रगुप्त जिस अर्थशास्त्र को आधारित करके राज्य व्यवस्था का संचालन करता था, उसमें स्पष्टतः स्वीकार किया गया है कि जनता के सुख एवं नैतिक जीवन का दायित्व राज्य पर है। अर्थशास्त्र में कौटिल्य लिखते हैं कि “प्रजा का सुख ही राजा का सुख है तथा प्रजा का हित ही राजा का हित है। राजा का हित अपने आनन्द में नहीं वरन् प्रजा के आनन्द में है।”

अशोक के शिला लेखों से भी यह बात स्पष्ट रूप से ध्वनित होती है। राज्य सभी के प्रति सहिष्णु हो तथा सभी के आचारों, विचारों एवं व्यवहारों का आदर करे, सबका सब के प्रति समत्व भाव बने तथा कानून के समक्ष सबकी समानता हो, इसका भारतीय राज्यव्यवस्था में विशेष आदर रखा जाता था।

### भू-सांस्कृतिक राष्ट्रीयता

भारतीय संस्कृति की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अवधारणा उसकी भू-सांस्कृतिक राष्ट्रीयता है। इस को भारतीय संस्कृति के अत्यन्त व्यावर्तक लक्षण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। पश्चिम की राष्ट्र-राज्य की अवधारणा के विपरीत भारत में प्राचीनतम काल से ही भू-सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का सिद्धान्त रहा है। यही कारण है कि अनेक प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों के होते हुए भी भारत भूमि को एक राष्ट्र के रूप में सर्वत्र स्वीकृत मिली, जो कि एक राष्ट्र, एक जन की मान्यता का प्रतिपादन करता है।

इस विशिष्टता को यूरोपीय इतिहास अथवा यूरोपीय इतिहास दृष्टि से भारतीय इतिहास



का लेखन और मूल्यांकन करने के तर्कों से समझ पाना संभव नहीं है। युद्ध, राजनीति और आर्थिक संघर्ष को भारतीय विकास का स्रोत मानकर हम भारत तथा भारतीय इतिहास की राष्ट्रीय दृष्टि को कदापि नहीं समझ सकते हैं।

स्वयं भारत शब्द भी एक भू-सांस्कृतिक अवधारणा को ही प्रस्तुत करता है। भारतीय संस्कृति में भूमि को माता माना गया है। एक भूमि पर रहने वाले समस्त जन उनके पुत्र हैं, भरत जो इस देश के पूर्वजों में श्रेष्ठतम हैं, उनके नाम पर इसे भारत कहा गया है। माता को ज्येष्ठ पुत्र का नाम से जोड़ कर बुलाने की परंपरा भी इस भूमि पर प्राप्त होती है। दूसरा अर्थ यह भी प्राप्त होता है कि 'भा' यानि प्रकाश, रत यानि लगा हुआ, अर्थात् प्रकाश की प्राप्ति में लगे हुए लोगों का जो जन भूमि संघात है वही भारत है।

राष्ट्र शब्द वैदिक काल से ही अपने मूल अर्थ में प्राप्त होता है। राष्ट्र एक सुघटित इकाई है, राज्य या किसी प्रकार की शासकीय सत्ता से इसका अर्थ संबन्ध रंच मात्र का भी नहीं है। माता भूमि, भारती वाक्, राष्ट्र इन वैदिक अवधारणाओं का पल्लवन ही भारत है। इस भारत वर्ष को एक यज्ञ वेदी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। जो उत्तर की ओर ऊँची है, दक्षिण की ओर ढलुआ है। इसे बाणयुक्त चढ़ा हुआ धनुष भी कहा गया है। हिमालय का विस्तार उस धनुष का आधारदण्ड है और दक्षिणापथ खिंची हुई डोरी, जिसके बीच में बाण रखा हुआ है। कन्या कुमारी का अन्तरीप उस बाण की नोक है।

इस भू-सांस्कृतिक अवधारणा का वर्णन सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में प्राप्त होता है। वेद जीवन की श्रेष्ठता को राष्ट्रीय सम्पन्नता की

मांग में देखते हैं, तो पुराण भारतवर्ष का विहंगम मानचित्र खींचते हैं, पर्वतों एवं नदियों के माध्यम से समूचे भारत का विस्तृत वितान प्रस्तुत करते हैं। जीवन पद्धति की दृष्टि से भी प्रातः उठ कर, स्नान करते समय उपासना के समय, सोते समय, नदियों, नगरी, महापुरुषों के स्मरण का एक ऐसा विशिष्ट विधान नियोजित होता है, जो किसी अन्य संस्कृति में दुर्लभ है।

पूरब के व्यक्ति को पश्चिम से, पश्चिम के व्यक्ति को पूरब से, उत्तर को दक्षिण से, दक्षिण को उत्तर से प्रतिदिन के व्यवहार में जोड़ने और सुदूर भारत को अपने नित्य के अनुभव का विषय बनाने की जो अनुपम विधि प्रस्तावित की गयी है, वह उत्कृष्टतम है। यह भारतभाव ही जीवन विधि है, भारतभाव की प्रतिष्ठा मात्र, भारत के लिये नहीं है। वह तो तभी चरितार्थ होता है, जब हम अपने, दायित्वों को पूरा करते हुए, सब में अपनी चेतना का दर्शन करते हुए, सबकी पीड़ा बांटते हुए, समस्त सृष्टि के कल्याण के लिये आकुलता का जागरण करते हुए, अपनी भारतीयता को प्रमाणित करें। •

**जब तक करोड़ों भूखे और अशिक्षित रहेंगे, तब तक मैं उस प्रत्येक व्यक्ति को विश्वासघातक समझूँगा, जो उनके खर्च पर शिक्षित हुआ है, परन्तु जो उन पर तनिक भी ध्यान नहीं देता।**

—स्वामी विवेकानन्द



# मूल्य और नैतिकता

डॉ० राकेश द्विवेदी

मूल्य वे हैं जो व्यक्ति-कल्याण और व्यक्ति-विकास के साथ-ही-साथ समाज-कल्याण और समाज-विकास में अपना योगदान देते हैं तथा अपनी व्यापक प्रतिष्ठा कर समूचे विश्व के मानवों को नैतिकता के एक सूत्र में बाँधते हैं, अर्थात् मूल्यों को आचरित एवं प्रसारित करके ही कोई व्यक्ति या राष्ट्र अपना कल्याण कर सकता है तथा दूसरों के लिए आदर्श उपस्थित कर सकता है। जो व्यक्ति या जो राष्ट्र मूल्यों का अनुपालन नहीं करने, उनकी भौतिक उन्नति तो हो सकती है किन्तु, नैतिक अथवा चारित्रिक नहीं, ऐसे में सामर्थ्यवान होने के बावजूद भी उनका आत्म बल कमजोर हो जाता है, उनकी आंतरिक चेतना मुर्झा जाती है, उनकी दूरदृष्टि भी कमजोर हो जाती है, स्वार्थ-लिप्सा के संकीर्ण दायरे में फँसकर वे पथभ्रष्ट हो जाते हैं और अंधकार के लोकों में प्रवेश करते हैं, भौतिकता (अविद्या) की उपासना के कारण उनका आत्म-विकास रुक जाता है, हृदय कल्मश से भर जाता है तथा गाढ़ा अंधकार चतुर्दिक उसे घेर लेता है—

*“अन्धन्तमः प्रविशन्ति ये ऽविद्यामुपासते।*

*ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥”*

—ईशावास्योपनिषद्

स्पष्ट हुआ कि मूल्य आत्म-कल्याण के साथ-ही-साथ समाज और विश्व का कल्याण करते हैं। समस्त प्रकार के प्राचीन से प्राचीन और नवीन से नवीन मूल्य मनुष्य के द्वारा, मनुष्य के लिए ही निर्मित होते हैं। कोई भी मूल्य सार्वदेशिक अथवा सार्वकालिक नहीं होते, देश-कालानुसार ये परिवर्तित होते रहते हैं, किन्तु मूल्य कभी मरते नहीं, उनका स्वरूप बदल सकता है, उनकी आत्मा नहीं। वे समयानुसार कम या अधिक प्रासंगिक हो सकते

हैं किन्तु पूरी तरह से अप्रासंगिक कभी नहीं। वे सीमित या व्यापक हो सकते हैं, किन्तु अस्तित्वविहीन नहीं, उनका अर्थ-संकोच या अर्थ-विस्तार हो सकता है, किन्तु अर्थहीन नहीं। किसी-न-किसी रूप में जीवन-सातत्य के साथ-ही-साथ मूल्य-सातत्य बना रहता है। वे हमारे संस्कारों में रच-बस कर जन्म-जन्मांतर, कल्प-कल्पांतर तक चलते रहते हैं। जब तक इस पृथ्वी पर मनुष्य रहेगा, मूल्य रहेंगे, क्योंकि इनके बिना जीवन संभव नहीं, यही मूल्य का महात्म्य है, ‘मूल्योरक्षतिरक्षितः’।

मूल्य और नैतिकता का अन्योन्याश्रित सम्बंध है। ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। मूल्य यदि अमूर्त विधान हैं तो नैतिकता इन्हें आचरण में उतारने वाली मूर्त विधायिनी शक्ति, जिसमें उतरकर मूल्य समाज और व्यक्ति-जीवन के सरोवर में कमलवत् खिलते हैं, अपनी सुरभि और सुंदरता फैलाते हैं तथा जो व्यक्ति, समाज या राष्ट्र इन्हें अपने चरित्र में धारण करता है उसकी चमक पूरी दुनिया में फैलती है। गाँधीजी इसके सबसे बड़े उदाहरण हैं। दरअसल नैतिकता व्यक्ति को ही नहीं उसको जन्म देने वाले राष्ट्र का भी उपकार करती है क्योंकि उस राष्ट्र का चरित्र, उसका आत्मबल, उसकी दृढ़ता, उसकी समुन्नत चेतना शक्ति, उसकी आत्म गहराई, उसका व्यक्तित्व-संस्कार के साथ-ही-साथ उसके देश की मिट्टी की महिमा भी इन्हीं महापुरुषों के द्वारा जानी जाती है। गाँधीजी में चारित्रिक दृढ़ता और आत्मबल का गहरा विश्वास ही था कि उन्होंने कभी न अस्त होने वाले ब्रिटेन के राजनैतिक सूर्य को भारत के क्षितिज से हमेशा के लिए अस्त कर दिया। राम, कृष्ण, बुद्ध जैसे अवतारी महामानव ही इस देश की



आध्यात्मिक पहचान हैं, जिनके बिना यह देश 'विश्व-गुरु' नहीं बन सकता। हम उनका अनुकरण कर पाते हैं कि नहीं, यह अलग बात है, किन्तु अनुकरण के लिए हमारे पास ये हैं, यही हमारा सौभाग्य है।

अनंतकोटिक ब्रह्मांड की भाँति जीवन भी अनंतकोटिक है और मूल्य भी। मूल्य की अनेक कोटियाँ हैं। सुविधा के लिए इन्हें हम चार वर्गों में बाँट सकते हैं। जो कम व्यापक से अधिक व्यापक की ओर गतिमान होती दिखाई पड़ती है, यथा —

1. व्यक्ति-मूल्य    2. समाज-मूल्य
3. राष्ट्र-मूल्य    4. विश्व-मूल्य

सभ्यता और संस्कृति की दीर्घ यात्रा में जो मूल्य परम्परा से ही व्यक्ति के लिए विधारित हैं, व्यक्ति-मूल्य कहलाते हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष जो सनातन काला से ही हमारे प्रयोजन रहे हैं, ऐसे ही मूल्य हैं, वस्तुतः सभी प्रकार के व्यक्ति-मूल्य इन्हीं के अंतर्गत आते हैं। भोजन, वस्त्र, धन-संपत्ति, मान-सम्मान, सुख-प्राप्ति, सफलता, सत्य, अहिंसा, ईमानदारी, स्वास्थ्य, सौन्दर्य, परोपकार, उदारता, श्रद्धा, भक्ति, आस्था, प्रेम, विश्वास इत्यादि ऐसे ही व्यक्ति-मूल्य हैं, जिनके बिना हम सांस्कृतिक मनुष्य की कल्पना नहीं कर सकते। इन्हीं मूल्यों से व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण होता है, चूँकि व्यक्ति में अच्छाई के साथ बुराई, शुभ के साथ अशुभ, उत्तम के साथ अधम जैसे अनेक गुण-दोष साथ-साथ होते हैं, चरित्र इन दोनों का पुंज होता है। इसीलिए जो उक्त मूल्यों का अपने चरित्र में जितना अधिक विकास करता है उसका व्यक्तित्व उतना ही यशस्वी बनकर संसार के सामने समुपस्थित होता है और आगे चलकर वह समाज के लिए ही नहीं समूचे राष्ट्र और विश्व के लिए भी उदाहरण बन जाता है। बुद्ध, ईसा, पैगम्बर, गाँधी आदि ऐसे ही थे।

व्यक्ति-मूल्य के अतिरिक्त कुछ समाजगत मूल्य और उससे उपजे दोष जैसे गरीबी-अमीरी, वर्णाश्रम, लिंग-भेद, छुआ छूत, भ्रूण-हत्या, दहेज,

भ्रष्टाचार, शोषण, अधिकार, हिंसा, आतंक, समता, भाईचारा इत्यादि। व्यक्ति के साथ ही साथ ये समाज के चरित्र में भी विद्यमान हैं, यद्यपि इनका भी मूल व्यक्ति ही है किन्तु इन्होंने अपना विकास कर समाज के चरित्र को भी आच्छादित कर लिया है, इसमें कुछ तो अच्छे हैं, पर अधिकांशतः बुरे। सत्य यह है कि अच्छाई के साथ हम बुराई को भी नकार नहीं सकते, केवल अच्छाई पर बात करना एकांगी होता है। हर मूल्य का कुछ-न-कुछ महत्त्व होता है किन्तु समाज के लोगों के द्वारा जब वे विकृत कर दिये जाते हैं तब उनका अवमूल्यन होने लगता है। कोई भी बुद्धिमान पुरुष इस बात से इनकार नहीं करेगा कि अहिंसा के साथ-ही-साथ कुछ परिस्थितियों में कभी-कभी हिंसा भी आवश्यक हो जाती है, सत्य के साथ झूठ भी आवश्यक लगने लगता है। शायद इसीलिए युधिष्ठिर को झूठ बोलना पड़ा— 'अश्वत्थामा हतः नरो वा कुंजरोवा।' चोर चाँदनी रात की नहीं, अंधेरी रात की कामना करता है— "चोरहिं चंदहिं राति न भावा-तुलसी।" प्रकाश की जगह उसके लिए अंधकार मूल्यवान होता है।

स्वतंत्रता, समानता, न्याय, बंधुत्व इत्यादि को राष्ट्रीय अर्थात् 'राष्ट्र-मूल्य' कहा जा सकता है, क्योंकि ये मूल्य राष्ट्र के राजा के द्वारा विधारित मूल्य होते हैं, जिनका आचरण और अनुपालन कर राष्ट्र के सभी नागरिक अपना विकास करते हैं तथा सुख-समृद्धि, भाईचारे के साथ-ही-साथ सौहार्द्रपूर्ण वातावरण में रहते हैं। इन मूल्यों के प्रभाव को स्थाई और अनिवार्य बनाने के लिए इन्हें संविधान में भी संरक्षित कर दिया जाता है और जो राष्ट्र उचित तरीके से इन्हें अपने आचरण में उतारता है उसके नागरिकों में कभी असंतोष का ज्वालामुखी नहीं फूटता। इन मूल्यों के द्वारा समाज की विषमता और कटुता को दूर किया जा सकता है। राम ने भी अपने राज्य में इन्हीं मूल्यों को स्थापित किया था और प्रजा के सुख-संतोष के लिए वहाँ सभी को समानता के अवसर उपलब्ध थे—



‘रामराज बैठे त्रैलोक्य। हरषित भए गए सब सोका।  
अल्प मृत्यु नहिं कवनउ पीरा। सब सुन्दर सब विरुज  
शरीरा।

बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई॥  
बरनाश्रम निज निज धरम, निरत वेद पथ लोग।  
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं, नहिं भय सोक न रोग॥

—रामचरितमानस : उत्तरकाण्ड

व्यक्ति, समाज और राष्ट्र से ऊपर उठकर  
‘विश्व-मूल्य’ वे मूल्य हैं जिनके अनुपालन में समूचे  
विश्व का कल्याण निहित होता है। हम कभी सुखी  
नहीं रह सकते यदि हमारे पड़ोस में आग लगी हो।  
सत्य, अहिंसा, दया, उपकार, परस्पर सहयोग, गरीब  
राष्ट्रों को सहायता, सुख-सुविधा के साधनों का  
आदान-प्रदान, अंतरिक्ष, नदियाँ, पर्वत, वृक्ष, जंगल,  
जीव-जन्तु, समुद्र, ओजोन आदि की रक्षा में सहयोग  
एवं सहभागिता करना सभी राष्ट्रों का दायित्व बनता  
है। इसी के साथ-ही-साथ, शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा,  
विश्व स्तर की महामारियों कैंसर तथा एड्स जैसे  
भयंकर एवं खतरनाक रोगों से समस्त मानवजाति की  
रक्षा, पर्यावरण-संतुलन, शक्ति-संतुलन अर्थात्  
अमीरी-गरीबी की खाई को कम करके निर्धन राष्ट्रों  
को भी विकास की मुख्य धारा के साथ जोड़ना सभी  
राष्ट्रों का दायित्व बनता है। तभी हम एक समृद्ध और  
समुन्नत विश्व की कल्पना कर सकते हैं। भारतीय  
मनीषा ने तो अपने ऊषः काल से ही इसे स्वीकार  
किया है और आचरित भी। कुछ उद्धरण द्रष्टव्य हैं—

1. “विश्वानिदेव सवितुर्दुरितानि परासुव यद्भद्रं तन्न  
आसुव।” — ऋग्वेद

2. “सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे संतु निरामयाः।  
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग् भवेत्॥”  
—यजुर्वेदः शांतिपाठ

3. “अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम्।

उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥”

— पंचतंत्र

मूल्य अमूर्त होते हैं, आचरण में आचरित होने से ही  
वे मूर्तरूप ग्रहण करते हैं और लोगों को अपने होने  
का बोध कराते हैं। मूल्य का आचरण करने वाला  
नैतिक कहलाता है, इसके विपरीत या विरोध का  
आचरण अनैतिक होता है। स्पष्ट हुआ कि नैतिक  
आचरण सदैव मूल्यवान होता है अथवा कह सकते  
हैं कि मूल्यवान आचरण सदैव नैतिक होता है। इस  
दृष्टि से मूल्य-विभाजन की भांति हम नैतिकता का  
भी विभाजन चार प्रकार से उसी क्रम में कर सकते  
हैं, यथा— 1. व्यक्ति-नैतिकता 2. समाज-नैतिकता  
3. राष्ट्र-नैतिकता 4. विश्व-नैतिकता

व्यक्ति-मूल्यों को अभिधारण करने वाला  
आचरण व्यक्ति-नैतिकता कहलाता है। अधिकार,  
कर्तव्य और दायित्वबोध के साथ जो व्यक्ति इन  
नैतिक मूल्यों, जिनकी ऊपर चर्चा हम कर चुके हैं;  
को धारण करता है— नैतिक आचरण वाला व्यक्ति  
कहलाता है। वह आत्म-कल्याण के साथ-ही-साथ  
विश्वकल्याण के लिए भी सदैव तत्पर होकर कार्य  
करता है। कभी-कभी तो अकेले ही वह त्याग का  
ऐसा अनूठा उदाहरण प्रस्तुत करता है कि उसका  
जीवन स्वतः ही विश्व-जीवन हो जाता है। न केवल  
समाज और राष्ट्र, बल्कि संपूर्ण विश्व के लिए उसके  
द्वारा किया गया आचरण एक ‘आदर्श प्रतिमान’ बन  
जाता है और समूचा विश्व उसे अनुकरण करने का  
प्रयास करता है। हमारे देश के लिए गाँधीजी इसके  
सबसे बड़े उदाहरण हैं। सत्य, न्याय और नैतिकता  
कभी भी अप्रासंगिक नहीं होती, दुनिया में चाहे  
जितनी उलट-फेर हो जाय।

‘सही’ को पुरस्कृत और उत्साहित करना तथा  
‘गलत’ को तिरस्कृत और अनुत्साहित करना समाज  
की नैतिकता है। बिना ‘समाज-नैतिकता’ के  
व्यक्ति-नैतिकता का विकास नहीं हो सकता। यदि  
‘सही’ को ‘दण्ड’ और ‘गलत’ को ‘पुरस्कार’ मिलने  
लगे तो शायद ‘सही’ रास्ते पर कोई चलना नहीं



चाहेगा और सभी अनैतिक आचरण करने लगेंगे। इसलिए यह समाज की नैतिक जिम्मेदारी बनती है कि वह नैतिकता के विकास और उसके प्रयास के लिए उपयुक्त माहौल तैयार करे। कवि तात्या जी ने इसी ओर संकेत किया है—

*“पतिव्रता को विपत्ति पड़ी, छिनाल जा बैकुंठे चढ़ी।  
तात्या जी की ऐसी बानी, अंधाधुंध सरकार है।”*

ऐसे में मूल्यों का अवमूल्यन होने लगता है, गलत को बढ़ावा मिलने लगता है। सत्याचरण, नैतिकता और न्याय के पथ पर चलने वालों को उपेक्षित और अपमानित होना पड़ता है। अतः मूल्यों का सामाजिक सरोकार होना अति आवश्यक है। ऐसा न होने पर ‘अंधेर नगरी और चौपट राज’ की कहावत चरितार्थ होने लगती और समाज भी क्षरित होने लगता है।

अवसर की समानता, अनारक्षण और पक्षपातरहित व्यवहार ये सभी ‘राष्ट्र-नैतिकता’ के गुण हैं। राष्ट्र का यह कर्तव्य होता है कि वह ऐसे महत्त्वपूर्ण मूल्यों का स्वतः पालन करे तभी वह सभ्य, सुसंस्कृत, शिक्षित, राग-द्वेषरहित उच्चविचार वाले नागरिकों को जन्म दे सकता है। सबको रोटी-कपड़ा-मकान मुहैया कराना तथा उत्कृष्ट स्वास्थ्य और शिक्षा की व्यवस्था करना राज्य अथवा राष्ट्र का नैतिक कर्तव्य होता है, रोजगार के साथ-ही-साथ ‘समान कार्य के लिए समान वेतन’ तथा संसाधन और उत्पादन का समान रूप से अधिकार और वितरण करना भी ‘राष्ट्र-नैतिकता’ की सीमा में आता है।

व्यक्ति, समाज, राज्य अथवा राष्ट्र से ऊपर एक ‘विश्व-नैतिकता’ भी होती है जिसका आचरण और अनुपालन विश्व के सभी देशों को करना चाहिए। यह अनुपालन गरीब या अमीर, विकसित, विकासशील या अविकसित सभी देशों को समान रूप से करना चाहिए, जैसे— पर्यावरण की सुरक्षा, क्षेत्राधिकार की रक्षा, वन्यजीवों एवं अन्य प्राणियों

की रक्षा, परमाणु-निरस्त्रीकरण, आतंकवाद निरोधी अधिनियम का पालन, अंतरिक्ष, समुद्र एवं जलवायु-संतुलन, भूकंप, सूखा या अकाल, बाढ़, रोग-महामारी, ज्वालामुखी और सुनामी जैसी प्राकृतिक आपदाओं के समय सहयोग एवं सहभागिता। चिकित्सा, शिक्षा एवं सुरक्षा इत्यादि में बराबर का सहयोग। अविकसित, अर्द्धविकसित अथवा विकासमान देशों को भी पूर्ण विकसित होने के लिए प्रोत्साहन, उनका भी विश्व-बिरादरी में बिना ऊँच-नीच के समान रूप से मान-सम्मान, यह सभी ‘विश्व-नैतिकता’ के दायरे में आता है। सभी देशों के धर्मों, रीति-रिवाजों, आस्थाओं, परम्पराओं के अतिरिक्त सभी देशों के महापुरुषों, वैज्ञानिकों, साहित्यकारों, समाज-चिंतकों तथा मनुष्यमात्र के कल्याण और भलाई में लगे लोक-सेवकों का भी समान रूप से आदर और सम्मानादि भी ‘विश्व-नैतिकता’ का अनिवार्य आचरण है, जिसके बिना कोई भी राष्ट्र स्वस्थ, सुरक्षित और सम्मानित नहीं हो सकता। समता, बंधुत्व, भातृत्व, सर्वोदय और सौहार्द्रपूर्ण वातावरण में ही यह विश्व अपने मंगलमय श्रेय को प्राप्त कर सकता है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि—मूल्य और नैतिकता एक दूसरे के संपूरक हैं। एक अमूर्त है तो दूसरा मूर्त, एक आदर्श है तो दूसरा यथार्थ, एक विचार है तो दूसरा विस्तार, एक ऋचा है तो दूसरा भाग्य, एक विधि है तो दूसरा व्यवहार, एक प्रतिमान है तो दूसरा प्रतिदान, एक साध्य है तो दूसरा साधन। जैसे साधन के बिना साध्य को प्राप्त करना दुष्कर है वैसे ही नैतिक आचरण के बिना मूल्य-चर्चा निरर्थक है। मूल्य-संपृक्त नैतिक आचरण की महत्ता इसीलिए है कि इसके बिना व्यक्ति न तो इस लोक में सम्मान पाता है और न ही मरने के बाद परलोक में। नैतिक आचरण न केवल किसी व्यक्ति का ‘आत्म-कल्याण’ करता है, बल्कि वह ‘विश्व-कल्याण’ भी करता है; आखिरकार व्यक्ति विश्व का ही तो अंग है। •



# नैतिक निर्णय लेने की क्षमता

डॉ. सुनील कुमार सिंह

संस्कृत भाषा में 'नयः' का अर्थ है नीति, व्यवहार के सिद्धान्त, शासन के सिद्धान्त [त्रिपाठी (1994) बाल संस्कृत कोष, नई दिल्ली]। इसी प्रकार बाहरी (2006) रचित 'संक्षिप्त हिन्दी शब्दकोश' के अनुसार 'नीति' का अर्थ है—व्यवहार का ढंग, बर्ताव का तरीका, लोक—व्यवहार हेतु नियत किया गया आचार। इसमें सदाचार—व्यवहार के नियम और रीतियाँ, शासन की रक्षा एवं व्यवस्था हेतु स्थिर किए गए तत्व एवं सिद्धान्त भी आते हैं। इसी प्रकार 'नैतिक' का अर्थ है—नीति युक्त आचरण।

'नैतिक निर्णय लेना' प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष है। दैनिक जीवन में सम्पादित किया जानेवाला प्रत्येक कार्य हमारे द्वारा लिये गये नैतिक निर्णय पर ही आधारित होता है। बल्कि यह निम्न स्तरों से जुड़ा हो सकता है :

1. व्यक्तिगत स्तर एवं
2. लोक – स्तर (इसके अंतर्गत हम पुनः दो स्तर पाते हैं— (क) परम्परागत पक्षों के सन्दर्भ में लोकाचार, एवं (ख) वर्तमान शासन व्यवस्था के सन्दर्भ में निर्धारित लोकाचार)।

यहाँ सभी स्तरों के संदर्भ में निर्णय लेने वाला एक 'व्यक्ति' ही है, अतः उसका व्यक्तिगत पक्ष अन्य सभी पक्षों को निश्चित रूप से प्रभावित करता है। इसलिए व्यक्तिगत स्तर पर निर्णय लेने की क्षमता का विकास सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इस सन्दर्भ में प्रो० ए० एन० त्रिपाठी (2005) ने अपनी पुस्तक 'ह्युमन वैल्यूज' (p.159) में नैतिक निर्णय लेने में तीन कारकों को महत्वपूर्ण माना है। यह निम्नवत हैं :

1. कार्य का उद्देश्य अथवा कार्य करने की मंशा,
2. उद्देश्य पूर्ति के लिए चुने गये साधन अथवा

लक्ष्यप्राप्ति के तरीके 3. कृत्य का परिणाम।

प्रस्तुत लेख में इन कारकों को आधार मानकर नैतिक निर्णय लेने की क्षमता विकसित करने के कुछ तरीकों की चर्चा की गई है।

## नैतिक निर्णय क्षमता

जीवन 'बनने' की प्रक्रिया है। श्रेष्ठ बनने की, बेहतर होने की, क्षमतावान होने की (विविध क्षेत्रों में) एवं समग्र रूप से मनुष्य बनने की। अतः आप क्षणभर में कोई अजूबा नहीं कर सकते। ऐसा कुछ नहीं है जो जादू की छड़ी की तरह क्षण भर में सबकुछ बदल दे। बल्कि क्षण—क्षण आप जो भी करते हैं उससे आप क्रमशः क्षमतावान बनते हैं। दैनिक जीवन के छोटे—छोटे कृत्यों में लिए गये निर्णय हमारी नैतिक निर्णय लेने की क्षमता को कमजोर या सबल करते हैं। यहाँ कुछ उदाहरणों द्वारा हम इसका साक्षात्कार कर सकते हैं।

**उदाहरण 1:** वर्ष 2000 के सिडनी ओलंपिक में अमेरिकी मेरियन जॉस तीन स्वर्ण एवं दो कांस्य पदक जीतकर सुपरस्टार बनी। स्वाभाविक है इसके लिए उन्होंने जी तोड़ मेहनत की होगी। सुपरस्टार बनने पर उन्होंने अमेरिका में ही नहीं बल्कि पूरे विश्व में खूब वाहवाही बटोरी थी। परन्तु अक्टूबर 2007 में पूरा विश्व स्तब्ध रह गया, जब यह उद्घाटित हुआ कि उन्होंने मादक औषधि का सेवन किया था। उन्होंने स्वीकारोक्ति की कि 'मैंने सबका विश्वास तोड़ा, खुद को छला..... शर्मिंदा हूँ' (हिन्दूस्तान, 7.10.07, वाराणसी)। ऐसे में पछतावे से उनके आँसू थम नहीं रहे थे।

**उदाहरण 2:** उपरोक्त की भाँति ही विगत वर्षों में कुछ भारतीय भारोत्तोलक भी मादक औषधि सेवन में संलिप्त पाये गये थे।



**उदाहरण 3:** हाल में ही कृष्णैया हत्याकांड में बिहार के सूबे के बहुचर्चित जिलाधिकारी जी. कृष्णैया की हत्या के सन्दर्भ में एक पूर्व सांसद और पूर्व मंत्री को पटना की विशेष अदालत ने फाँसी की सजा सुनायी (हिन्दुस्तान, 4.10.07, वाराणसी)।

**विश्लेषण :** उपर्युक्त तीनों उदाहरणों में सन्दर्भित व्यक्तियों के कृत्यों को निश्चित रूप में अनैतिक ही कहा जाएगा। परन्तु ऐसा क्यों हुआ? निश्चित रूप से उन सभी की—

- मंशा संकुचित थी (तीनों में ही व्यक्तिगत स्वार्थ सर्वोपरि था,) तात्पर्य है ऐन-केन-प्रकारेण उद्देश्य प्राप्ति।
- इसी प्रकार उद्देश्य की प्राप्ति हेतु उपयोग किये गये साधन भी अनुचित थे।
- अंततः कृत्य का परिणाम भी दुःखदायी हुआ। अब कुछ अन्य उदाहरणों पर ध्यान दें।

**उदाहरण 4:** बापू को नोबल पुरस्कार न देना भारी भूल। गाँधी जी की 138 वीं जयंती पर नोबल समिति ने बापू को नोबल पुरस्कार से सम्मानित न करने को अपनी भूल के रूप में स्वीकारा। ज्ञात हो कि महात्मा गाँधी को इसके लिए पाँच बार नामित किया गया था। (हिन्दुस्तान, 3.10.07, वाराणसी)

**उदाहरण 5:** 'देश की 15 विधान सभाओं में बैठ रहे हैं दागी विधायक' (हिन्दुस्तान, 18.8.07 वाराणसी)। यह आँकड़े स्पष्ट रूप से संकेत करते हैं कि जितनी बड़ी एवं चर्चित राजनैतिक पार्टी है उसमें उतने ही अधिक संख्या में दागी विधायक हैं।

**विश्लेषण:** उपरोक्त उदाहरण 4, एवं 5 पुनः यह प्रदर्शित करते हैं कि लिए गये निर्णय व्यक्तिगत एवं साथ ही सामूहिक स्तर पर अनुचित हैं। ऐसा इसलिए है क्योंकि व्यक्तिगत एवं सामूहिक दोनों ही स्तरों पर हमारी मंशा में ही

दोष व्याप्त है। अतः निर्णय—प्रक्रिया में प्रयुक्त साधन भी अनुचित हैं। इसलिए कृत्य का परिणाम भी अनुचित है। उपर्युक्त सभी पाँच उदाहरण बताते हैं कि मूल दोष नैतिक निर्णय लेने की क्षमता से ही संबंधित है। इस प्रकार के अनेकों जीवन्त उदाहरण हैं जो हमारी नैतिक निर्णय न ले पाने की क्षमता को प्रदर्शित करते हैं।

### **नैतिक निर्णय लेने की आवश्यकता**

अनैतिक निर्णय हमारी मानसिक अशुद्धता के द्योतक हैं। नैतिक निर्णय लेने के लिए मानसिक शुद्धि की आवश्यकता होती है। परन्तु मानसिक शुद्धि का मार्ग क्या है? अपनी गलतियों से सीखकर पुनः सुधार करना एक मार्ग हो सकता है। महात्मा गाँधी का "सत्य के प्रयोग" इसका एक उदाहरण है। इसके साथ ही यह भी ध्यान देने की जरूरत है कि नैतिक निर्णय का अभिप्राय मात्र औपचारिक रूप से घोषित करणीय एवं अकरणीय से नहीं है परन्तु स्वयं अपने लिए अपने द्वारा तय करणीय एवं अकरणीय व्यवहार से है। इसके द्वारा हम अपनी आंतरिक चेतना का विकास करते हैं। अतः मानसिक शुद्धि, नैतिक निर्णय एवं आन्तरिक चेतना का विकास परस्पर एक दूसरे से जुड़े हैं एवं एक का विकास दूसरे को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है। इस संदर्भ में कोई नियम आरोपित करने वाली एजेंसी (अभिकरण) की आवश्यकता नहीं होती है। स्वयं अपने निर्णय लेने और करने के क्रम में हम बनते चले जाते हैं। अपने गलत एवं सही कृत्यों को पहचानने एवं सुधारने की हमारी क्षमता विकसित होती जाती है। प्रतिक्रिया एवं प्रतिदिन तनावमुक्त होता जाता है। हमारी सामूहिक स्वीकार्यता बढ़ती जाती है। सुख-शान्ति प्राप्त होती है।

उपर्युक्त उदाहरणों के सन्दर्भ में हम



स्वयं विश्लेषण करके देख सकते हैं कि यदि तय उद्देश्य, उसकी प्राप्ति के साधन नैतिक रूप से उचित होते तो कृत्य के परिणाम अपेक्षाकृत सुखदायक एवं शांतिदायक होते।

### **नैतिक निर्णय-क्षमता विकास**

नैतिक निर्णय क्षमता विकास एक सरल प्रक्रिया है। यह तब तक सरल है जब तक आप सरल हैं। यह उसी क्षण जटिलता में परिवर्तित हो जाती है जिस क्षण आप दूसरे के नैतिक होने की दुहाई देना प्रारम्भ कर देते हैं। अतः यह दुधारी तलवार की तरह है। इसमें निश्चित रूप से कदम-कदम पर सावधानी बरतने की जरूरत है, इसमें अति सूझ-बूझ की आवश्यकता होती है। इस संदर्भ में यहाँ कुछ बिन्दु सुझाये जा रहे हैं :

**1. नैतिक कृत्य करने में श्रद्धा रखें:** आपने लोगों को कहते सुना होगा—जमाना खराब है, भलाई का जमाना नहीं है, लगता है आपने ही अच्छे कामों का ठेका ले रखा है, बड़े सिद्धान्तवादी बनते हैं,.....। इस प्रकार के अनेकों वाक्य भिन्न-भिन्न प्रसंगों में दुहराये जाते हैं। इनको सुनकर विचलित न हों। अपने व्यक्तिगत स्तर पर एक अडिग विश्वास विकसित करें कि, “नैतिक कृत्य जीवन को सुखदायी व शान्तिदायक बनाते हैं”।

**2. व्यक्तिगत एवं सामाजिक संदर्भों के विषय में स्वयं अपना दृष्टिकोण एवं समझ विकसित करें :** हमारे परिवेश में व्यक्तिगत एवं सामाजिक ज्ञान का एक विशाल भंडार होता है। आमतौर पर इन संदर्भों में हम उधार ली हुई दृष्टि के आधार पर निर्णय लेने के अभ्यस्त हो जाते हैं। इन सभी संदर्भों में उपलब्ध ज्ञान का उपयोग करना अनुचित नहीं है, परन्तु उसी पर आश्रित होना अनुचित हो सकता है। अतः इन

सभी संदर्भों में आप स्वयं ही अपनी दृष्टि एवं समझ विकसित करें।

**3. जीवन के व्यक्तिगत एवं सामाजिक पक्षों में समन्वय स्थापित करें :** जीवन को एकांगी होने से रोकना भी जरूरी है। अतः यह ध्यान रखें कि मात्र व्यक्तिगत पक्षों पर ध्यान देकर आप संकीर्ण स्वार्थी न हो जायें। इसी प्रकार सामाजिकता में व्यक्तिगत पक्षों को विस्मृत न कर दें। इसलिए यह आवश्यक है कि सामाजिक कार्यों में भी सहभागिता करें एवं स्वयं के लिए भी समय रखें।

**4. जीवन के छोटे से छोटे निर्णय लेने में अपनी समझ को स्थान दें :** समूह के निर्णय को आँख मूँदकर न स्वीकारें। अपनी दृष्टि का आदर करें। साथ ही दूसरों द्वारा लिये गये निर्णय को सम्मान सहित उनकी दृष्टि से भी समझने की कोशिश करें।

**5. निर्णयों को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करें :** कभी-कभी उचित निर्णय लेने के बाद भी हम उनको व्यावहारिक रूप नहीं दे पाते हैं। बल्कि कहें तो हम मात्र सैद्धान्तिक पक्ष तक ही सीमित रहते हैं। अर्थात् नीतिज्ञ तक सीमित रहते हैं। हमें तो ‘नीति परायण’ होना चाहिए। इसके लिए हमें नेतृत्व करने के लिए भी तैयार रहना चाहिए।

**6. गलतियों से डरें नहीं बल्कि उनसे सबक लें :** कुछ कार्यों को हम इसलिए नहीं करते क्योंकि हम सोचते हैं कि कोई गलती न कर बैठें। हमें तो उत्साह पूर्वक कार्य करने की आदत विकसित करनी चाहिए एवं कार्य में की गई गलतियों को सुधारने की कोशिश करनी चाहिए।

**7. धैर्य धारण करें पर दीर्घसूत्री न बनें :** समय अनमोल है। जीवनकाल छोटा है। अतः समयानुसार कार्य सम्पन्न करने की आदत विकसित



करें। समय पर न किया जाने वाला कार्य निष्फल होता है। परन्तु आवश्यक नहीं कि समय से सम्पन्न कार्य अपेक्षित फल प्रदान करने वाला हो। अतः धैर्यधारण करने की आदत डालें।

**8. अपनी मंशा को व्यापक एवं पारदर्शी बनाएँ :** उद्देश्य निर्धारण एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु है। उद्देश्य जितना व्यापक होगा उतना ही कल्याणकारी। तात्पर्य यह है कि व्यक्तिगत स्तर पर एवं सामाजिक स्तर पर अर्थात् जिस स्तर विशेष से संबंधित निर्णय है। उससे संबंधित एवं उससे प्रभावित होने वाले पक्षों के विषय में विचार करके ही उद्देश्य निश्चित करें। इसे स्पष्ट भी होना चाहिए।

**9. उद्देश्य प्राप्ति हेतु साधनों की शुद्धि पर ध्यान दें :** आपने जो उद्देश्य तय किया है उसकी प्राप्ति हेतु सार्थक साधन उपयोग करें। सार्थक से तात्पर्य है कि साधन श्रम संकल्प एवं शुद्धता पर आधारित हो एवं व्यक्ति व समाज के संदर्भ में कल्याणकारी हो। उदाहरण के लिए परीक्षा में अच्छे अंकों से पास होने के लिए संकल्प करें, श्रम करें एवं अपनी बौद्धिक क्षमता का विकास कर सामर्थ्यवान बनें।

**10. ध्यान रखें! प्रत्येक कृत्य का परिणाम होता है एवं परिणाम की संचयी प्रवृत्ति होती है :** यह उचित ही है कि हम जिस प्राकर की भूमि तैयार करेंगे, जैसा बीज बोयेंगे, जिस प्रकार से उसकी देखभाल करेंगे उसी के अनुरूप फल प्राप्त होंगे। परन्तु इस प्रकार से तैयार फल ही आगे की फसल के लिए बीज बनेगा। ठीक उसी प्रकार जैसे पिछली फसल का बीज वर्तमान फसल के लिए चुना गया था। अतः ध्यान रखें कि परिणाम की संचयी प्रवृत्ति से वंचित नहीं रहा जा सकता है।

**11. अच्छे कृत्यों का समर्थन करें एवं बुरे**

**कृत्यों का त्याग :** किसी के भी अच्छे कृत्यों को स्वीकार करें। साथ ही बुरे कृत्यों का त्याग करें। विशेषतौर पर व्यक्तिगत स्तर पर अपनी जवाबदेही तय करें एवं सुधार करें। किसी भी प्रकार के बुरे कृत्यों को सामाजिक स्वीकृति देने से बचें।

**12. यह आत्मविश्वास विकसित करने की प्रक्रिया है :** करके बनना ही आत्मविश्वास है। इसी से आप दृढ़ बनते हैं।

**निष्कर्ष :** मनुष्य बनने की प्रक्रिया में नैतिक निर्णय लेने की क्षमता का विकास होना अति आवश्यक है। जीवन में हर क्षण आप चौराहों पर खड़े रहते हैं। किधर जाना है यह आपकी मंशा पर निर्भर करता है। कभी-कभी नहीं बल्कि आजकल तो अक्सर हम दूसरों का भ्रमवश पीछा करने लगते हैं एवं इतना आगे बढ़ जाते हैं कि लौटने की क्षमता ही नहीं बच पाती है। अतः प्रत्येक चौराहे पर अपनी समझ का उपयोग करें, किसी भी पक्ष को नैतिक कसौटियों पर कसें, तभी आगे बढ़ें। मार्ग में भी मूल्यांकन जारी रखें। ऐसा करने से आप इतने क्षमतावान तो बनेंगे ही कि प्रत्येक क्षण अपने को सुधारने के लिए तैयार रहेंगे। जीवन में इस तैयारी का बहुत महत्त्व है। तैयार रहने से आप सभी के बीच अपने ढंग से रहना भी सीखते हैं। परन्तु इसका यह तात्पर्य बिल्कुल नहीं कि आप अनैतिक बनकर जीयें।

अंत में विचार करें, भारत के 7 प्रतिशत उच्च शिक्षा में अध्ययनरत व्यक्तियों में आप भी हैं। क्या आप क्षमताओं की दृष्टि से आम व्यक्ति से भिन्न नहीं हैं? व्यक्ति, समाज, राष्ट्र एवं विश्व का हश्र क्या होगा यदि इन क्षमताओं में नैतिक निर्णय लेने की क्षमता निहित न हो? •



## मूल्य-समझौता : अवमूल्यन

अखिल कुमार

मूल्यों के संबंध में एक बात काबिलेगौर है कि यद्यपि मूल्य, आदर्श के नजदीक हैं, तथापि यथार्थ भी स्वयं एक मूल्य है। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह व ब्रह्मचर्य से लेकर आधुनिक बहुचर्चित समता, समानता, बंधुत्व, न्याय आदि तक के मूल्य संबंधित प्रवर्तकों के प्रवर्तन से पहले भी रहे होंगे किन्तु इनका प्रत्यक्ष बोध व वास्तविक कार्यान्वयन संबंधित विशिष्ट प्रयासों द्वारा ही संभव हुआ। तात्पर्य यह है कि सत्य, सत्य है, श्रेष्ठ है। यह महात्मा गाँधी या गौतम बुद्ध द्वारा कहे जाने पर ही श्रेष्ठ नहीं है वरन यह लोगों के कथन से पूर्व भी श्रेष्ठ गुण या लक्षण था और रहेगा। यहीं से मूल्यों के प्रवर्तन के बारे में सबसे महत्वपूर्ण बात उभरती है कि मूल्यों में सार्वत्रिकता व सार्वकालिकता का गुण है। दया एक मूल्य है तो यह बस एक भारतीय गरीब के प्रति नहीं होगा वरन यह मूल्य अमेरिका में प्रशान्त महासागर की तलहटी में एक मछली या मूँगे के लिए, अंटार्कटिका के सफेद भालू के लिए और खुद अपने शरीर की दशा के लिए समान रूप से मूल्यकारी होगा। तात्पर्य यह नहीं है कि आक्रामक शार्क व शिकारी भालू के प्रति अनिवार्य दया का प्रदर्शन निज को जोखिम में डालकर किया जाय क्योंकि निज जीवन व जीवित रहना भी एक मूल्य है किन्तु समय पड़ने पर श्रेष्ठ मूल्यों जैसे देश रक्षा, शरणागत रक्षा, संवैधानिक मूल्य रक्षा आदि के लिए जीवन मूल्य की श्रेष्ठता को बलिदान मूल्य द्वारा त्यागा जा सकता है। यही अधिक श्रेष्ठ मूल्य है।

मूल्यों के संबंध में विचारणीय एक तथ्य यह है कि मूल्य चर्चा में प्रायः मेरे मूल्य, उनके मूल्य और सबके मूल्य या यों कह लें कि व्यक्तिगत व सामाजिक मूल्यों की बात आती है जो वास्तव में

निजी दर्शनों के रूप हैं, मूल्यों के नहीं। निजी मूल्य या व्यक्तिगत मूल्य जबरदस्ती के निजी-स्थापन या मनोवैज्ञानिक युक्तिकरण (rationalisation) हैं। मूल्यों के संबंध में वैयक्तिकता की बात ही नहीं है क्योंकि मूल्य स्थूल या प्रत्यक्ष वैज्ञानिक न होकर दार्शनिक व सामूहिक-भावनात्मक अधिक हैं जो श्रेष्ठ लक्षणों के वैचारिक नैरंतर्य के परिणाम हैं। ये श्रेष्ठ व्यवहारों के बहुमत-स्वीकृत विचार हैं जो निजी स्वीकृति के मोहताज नहीं। इनकी श्रेष्ठता स्वयंसिद्ध है।

मूल्य, मानदण्डों (Standards) व मानकों (Norms) के भी नजदीक हैं, जहाँ मूल्य व मानदण्ड लक्ष्य हैं, एक आदर्श हैं वहीं मानक इन लक्ष्यों को प्राप्त करने व इन तक पहुंचने के साधन हैं। वास्तव में मूल्यों का एक प्रधान लक्षण मानकता है क्योंकि मानकता एक समूह के अधिसंख्य सदस्यों का औसतगुण है, कल्पित बिन्दु है जिससे ऊपर श्रेष्ठता व नीचे लघुता की अनुभूति होती है। अतः मानकता मूल्य निर्धारण व मूल्य निर्णयन में फिल्टर पेपर का कार्य करती है।

### अवमूल्यन—

मूल्य विचलन या अवमूल्यन का सबसे प्रधान कारण समझौता या समझौतावादी प्रवृत्ति है। मूल्य पालन यदि अप्रत्यक्ष आदर्श है तो मूल्यों से समझौता करके, इनका स्तर गिराकर इनका अवमूल्यन किया जाता है। यद्यपि विशेष परिस्थिति में जब कई मूल्यों के बीच एक सर्वश्रेष्ठ मूल्य के चयन की समस्या आती है तब समझौता प्रवृत्ति अपनायी जा सकती है। एक मूल्य के मानकों को ऊँचा-नीचा या उनमें हेर-फेर किया जा सकता है

(शेष भाग पृ० सं० 59 पर)



# जीवन जीने की कला

डॉ० आर० के उपाध्याय

प्रत्येक व्यक्ति खुश एवं सुखपूर्वक जीवन जीना चाहता है, प्रयास भी करता है लेकिन कुछ लोग अपनी जिम्मेदारियों का सकुशल निर्वाह करते हुए एक सफल जीवन जीते हैं एवं अपने बौद्धिक कौशल का प्रयोग करते हुए समय, परिस्थिति से सुन्दर तालमेल बैठाते हुए जीवन यात्रा पूरी करते हैं। प्राचीन काल से ही यह प्रयास चल रहा है कि व्यक्ति को कैसे सुख, शान्ति एवं प्रसन्नता मिले व बेहतर तरीके से मनुष्य अपना जीवन सुन्दर, सार्थक एवं उपयोगी बना सके। यह विषय अपने आप में एक बड़ा आयाम है एवं व्यक्ति विशेष के लिए इसके अलग-अलग मापदंड हो सकते हैं, लेकिन यहाँ कुछ ऐसे बिन्दुओं को रखने का प्रयास किया जा रहा है। सामान्य जीवन में खुशियों का खजाना पाने के लिए निम्नलिखित सूत्रों को आज अवश्य अपनाएँ। मेरा पूरा विश्वास है कि आज भोगवाद की आँधी में जो व्यक्ति बाहरी चकाचौंध और भाग-दौड़ में, प्रसन्नता की तलाश में दर-दर भटक रहा है, उसे इन सूत्रों के अभ्यास से सार्थक, उद्देश्यपूर्ण जीवन जीने में मदद अवश्य मिलेगी। आइये कुछ विशेष बिन्दुओं पर चर्चा करें।

● **वर्तमान में जिँ** : अपने वर्तमान के क्षणों को पूरी तरह से जिँ। जो कुछ अभी वर्तमान में है, उस पर पूरी तरह से ध्यान केन्द्रित करें। भूतकाल की सुखद स्मृतियों व भविष्य की आशाओं को अपनी शक्ति बनाएँ, न कि उनमें डूबते-इतराते वर्तमान को नष्ट करें। न ही भूत के पश्चाताप और भविष्य की चिन्ताओं को वर्तमान की कर्मनिष्ठा में बाधक बनने दें। यदि हम वर्तमान का सही

इस्तेमाल करते हैं तो भूत के दाग स्वतः धुलते जाएँगे और भविष्य की चिन्ताओं का निराकरण स्वयं ही हो जायेगा, खुशियों की महक से वर्तमान जीवन सुवासित हो उठेगा। लेकिन यह सच है कि वर्तमानजीवी बनना एक बड़ी साधना है, वे ही वर्तमान में जी सकते हैं जिनका चित्त निर्मल हो और जिनकी मानसिक एकाग्रता पुष्ट हो। अधिकांश वर्तमान में जीना जानते ही नहीं हैं। रात दिन विचारों के इर्द-गिर्द चक्कर लगाने वाला व्यक्ति कभी प्रसन्न नहीं रह सकता।

● **अपने शरीर के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण** : ईश्वर ने हमें मनुष्य के रूप में जीवन दिया है, यह उसकी अमानत है, यह भाव लेते हुए जीवन की यात्रा पर आगे बढ़ने के लिए मिला यह शरीर एक दुर्लभ उपकरण है। जीवन की चरम संभावनाओं का बीज इसी के भीतर गुह्य केन्द्र में अभिव्यक्त होने के लिए छटपटा रहा है। अतः शरीर पर समुचित ध्यान दें, पौष्टिक आहार, संयमित विहार एवं उचित श्रम-विश्राम के साथ इसे स्वस्थ, बलिष्ठ एवं निरोग रखें। स्वस्थ शरीर ही प्रसन्नता का प्रथम सोपान है। इसे जहरीले आहार, नशीले पदार्थों एवं भ्रष्ट आचरण से बरबाद न होने दें।

● **अपनी मौलिक विशेषताओं को खोजें व ताराशें** : प्रत्येक व्यक्ति में कुछ न कुछ विशेषताएँ अवश्य होती हैं जो अन्य व्यक्ति से उसे अलग करती हैं व जिनकी अभिव्यक्ति में मनुष्य विशेष रूप से अपने जीवन की सार्थकता की झलक देख पाता है। अपनी इसी मौलिकता को पुष्पित-पल्लवित कर इसे सबल, सुदृढ़ बनाने में कोई कसर न छोड़ें। इसी के इर्द-गिर्द अपने



जीवन लक्ष्य का निर्धारण करें। व्यवहारिक एवं छोटे-छोटे कदमों के साथ, इसको साकार करने की ओर बढ़ें। हर सफल कदम की उपलब्धि आपके जीवन में खुशी की एक बहार लायेगी।

● **दूसरों का सम्मान करें** : अपनी तरह हम दूसरों में निहित श्रेष्ठ संभावनाओं एवं विशेषताओं के भी द्रष्टा बनें। सच तो यह है कि जितना हम अपने आप से गहरा परिचय एवं आत्म-सम्मान पाते जाते हैं, उसी अनुपात में बाहर दूसरों की समझ बढ़ती है व उनका सम्मान करना सीखते हैं। दूसरों की अच्छाइयों – गुणों का जहाँ सम्मान करना सीखें, वहीं उनके दोष-दुर्गुणों एवं मानवीय त्रुटियों के प्रति कटुता से बचें। इनके प्रति उदार एवं सहिष्णुता भरा दृष्टिकोण का विकास करें। किसी के प्रति निंदा, चुगली एवं दोषारोपण आदि के नकारात्मक व्यवहार से बचें। क्षमा एवं उदारता के साथ हुआ आत्मविस्तार, आपकी खुशियों में आश्चर्यजनक इज़ाफ़ा करेगा।

● **लोकमत की परवाह न करें** : इसमें दो राय हो सकती है लेकिन यह सच है कि यदि आप अपने अन्तः सत्य की अभिव्यक्ति के मार्ग पर अग्रसर हैं तो दूसरों के समर्थन, प्रशंसा आदि की ज्यादा आशा न करें। वाह्य स्वीकृति या पुष्टि की आशा-अपेक्षा, हमें अपनी खुशियों के लिए परावलंबी बनाती है। जब आप पूरी जिम्मेदारी के साथ अपनी मौलिक क्षमताओं के प्रकटीकरण के मार्ग पर प्रवृत्त हैं तो इसकी शक्ति-सामर्थ्य सब आपके अन्दर से ही प्रस्फुटित होती है। ऐसे में दूसरों के सोचने या मानने से क्या बनने-बिगड़ने वाला है। अतः ऐसे में अंदर ईमान और ऊपर भगवान को लेकर एकाकी साहस के बल पर जीवन-पथ के राही बनें।

● **प्रतिक्रियाओं के आईने में स्वयं को निहारें** : प्रतिक्रियाओं के क्षणों में भी आप प्रसन्नता के

बीज बो सकते हैं। किसी व्यक्ति या परिस्थिति के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया के क्षणों में वास्तव में हम स्वयं से जूझ रहे होते हैं। हमारे ही अन्दर राग-द्वेष एवं दमित भाव इन क्षणों में आवेग-आवेश बन फूट पड़ते हैं। वाह्य जगत, अंदर की प्रतिछाया मात्र है। बाहर घृणा का तीव्र भाव, अंदर किसी अंधेरे कोने की ओर संकेत कर रहा होता है और बाहर का प्रगाढ़ राग, अंदर की तीव्र चाहत को इंगित कर रहा होता है। इस तरह संबंधों के आईने में प्रतिक्रिया के क्षणों को अपने विकास का साधन बना सकते हैं। याद रखें कि प्रतिक्रियाहीन जीवन आत्मविकास के चरम का द्योतक है और खुशियों की चरमावस्था भी।

● **अन्तर्ध्वनि का अनुसरण करें** : जीवन में क्या सही है, क्या गलत है इसके समाज एवं प्रचलन में मान्य सूत्र एवं नियम अलग-अलग हो सकते हैं व इनके प्रति स्वीकृति एवं अनुसरण में भी हमें संशय-दुविधा की स्थिति हो सकती है, किन्तु अन्तर्ध्वनि के रूप में एक अचूक सूचक हमारे ही अन्दर मौजूद है। गलत राह पर कदम रखते ही हमारे पैर लड़खड़ाने लगते हैं, गलत काम में हाथ डालते ही हाथ काँपने लगते हैं। यह ध्वनि इतनी स्पष्ट होती है कि इसको नजरअंदाज नहीं कर सकते, किन्तु यह इतनी सूक्ष्म होती है कि इसको आसानी से कुचलकर आगे बढ़ सकते हैं। प्रायः यही मनमानी खुशियों की तमाम संभावनाओं पर तुषारापात का एक प्रमुख कारण बनती है जबकि अन्तर्ध्वनि के रूप में अवतरित होते इन ईश्वरीय संदेशों के अनुपालन में खुशियों का राज छिपा है।

● **सम बने रहने का भाव** : संसारिक जीवन में समभाव में बने रहना अत्यन्त कठिन कार्य है, लेकिन सतत अभ्यास, सत्संग, प्रेरणाप्रद

पुस्तकें पढ़ने से जीवन के प्रति दृष्टिकोण को रचनात्मक, धनात्मक (positive) बनाया जा सकता है एवं उस स्थिति में लाभ-अलाभ, निन्दा-प्रशंसा प्रत्येक स्थिति में सम रहने वाले लोग ही प्रसन्न रह सकते हैं व अनावश्यक चिंतन का भार नहीं ढोते। यह जीवन जीने के उपर्युक्त सूत्रों में ही राज छुपा है। इसे अभ्यास से आत्मसात कर बेहतर एवं सार्थक जीवन जिया जा सकता है।

खुशियों के अनंत स्रोत से जुड़े रहने के लिए आवश्यक है, कुछ क्षण एकांत चिंतन-मनन और ध्यान के लिए निकालें। व्यवसायिक भाग-दौड़ की वर्तमान जिन्दगी में कार्य के अतिशय दबाव के बीच, जहाँ समय की कमी एक ज्वलंत समस्या है, वहीं इसके बीच तनाव एवं चिंता के आत्मघाती मार्ग से उबरने के लिए, कुछ पल विशुद्ध रूप से अपने लिए निकालना बुद्धिमानी वाला कदम होगा। एकांत के इन क्षणों में उपर्युक्त सूत्रों को ध्यान में रखते हुए, अपने स्रोत की ओर बढ़ते हुए अन्तर्सम्वाद की स्थिति में गहन विश्रान्ति के पल बिता सकते हैं। स्वाध्याय, सत्संग, आत्मचिंतन-मनन, ध्यान, प्रार्थना, आदि इसी की तकनीकें हैं। •

(शेष भाग पृ० सं० 56 से)

किन्तु इसका हवाला देकर सदैव का समझौता अंततः अवमूल्यन को ही बढ़ावा देगा। समय के साथ कुछ पुराने मूल्यों, जो अब हानिकारक हो गये हों, उनकी नींव पर नये मूल्यों की स्थापना भी जरूरी है। ऐसा ही एक श्रेष्ठ मूल्य है-समता जो जातियता, क्षेत्रीयता, समभाषिकता व इस तरह के पुराने पड़ चुके विघटनकारी नारकीय मूल्यों के समाधि पर स्थापित होने ही चाहिए। क्रमशः मूल्यवान समाज के निर्माण के लिए श्रेष्ठ मूल्यों का आत्मसातीकरण भी विभिन्न समाजों में होना चाहिए। लोकतांत्रिक मूल्य ऐसे ही मूल्य हैं।

यद्यपि मूल्य एक बहुमत के वैचारिक प्रतिमान हैं, किन्तु असंभव नहीं कि बहुमत ही इनका विरोध करे और 'एकला चलो रे' में इनकी प्राण-प्रतिष्ठा हो। फिर भी दृष्टव्य यह है कि बहुमत कहीं श्रेष्ठ मूल्य के समर्थन में तो यह विरोध और नव-मूल्य परिष्कार तो नहीं कर रहा है, यदि ऐसा है तो निश्चय ही नव-मूल्य स्वागत योग्य होगा। अंततः मूल्य निर्णयन या मूल्य पालन तरजीही प्रवृत्ति पर ही आश्रित है और परिवर्तनशील विश्व व्यवस्था में मूल्य पालन के लिए सबसे आवश्यक है- सम्यक् तरजीह। •

### 'युग धर्म'

**आज के युग धर्म की है 'वेदना'**

उठ रही है क्यूँ धरा से मानवीय संवेदना।

क्या शून्य शोषित हो गया है

अब धरा पर?

"मूल्य" की होनें लगी अवहेलना।

**आज के.....**

'शक्ति' की अभिव्यक्ति ही सर्वत्र है,

'घात' और 'प्रतिघात' की है सर्जना।

झूठ का साम्राज्य ही है

अब धरा पर।

'सत्य' की होने लगी अभिव्यंजना।

**आज के.....**

'राम' ही 'रावण' बना चहुँ ओर है,

'मन्थरा' की अब नहीं है भर्त्सना।

हो गया आदर्श शातिर

अब धरा पर।

'श्रेष्ठ जन' की हो रही अवमानना।

**आज के.....**

डॉ० टी०एन० मिश्र

रीडर, समाजशास्त्र



# समय-प्रबन्धन : एक महत्त्वपूर्ण व्यावहारिक जीवन मूल्य

राजेन्द्र कुमार

समय की कमी का रोना प्रायः अधिकतर लोग रोते रहते हैं। लेकिन समय तो हम सभी के पास 24 घंटे का ही होता है। फिर भी कुछ लोगों के काम समय पर हो जाते हैं, और कुछ लोग समय पर काम पूरा न कर पाने के कारण हमेशा चिन्ताग्रस्त व तनाव की स्थिति में रहते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि वे अपने समय का समुचित प्रबन्धन न कर पाने के कारण समय का सदुपयोग नहीं कर पाते हैं।

इसके विपरीत कई अत्यन्त सफल लोग, जिनका कार्यक्षेत्र काफी विस्तृत है अर्थात् जो एक साथ कई क्षेत्रों में कार्य करते हैं, जैसे— राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के सफल राजनीतिज्ञ, उद्योगपति बड़ी कंपनियों के प्रबंधक आदि, उसी सीमित समय में सफलता पूर्वक अपने सभी दायित्वों का निर्वाह कर सन्तुष्ट दिखते हैं। पर दूसरे लोग जिनके पास काम काफी कम है और समय उतना ही है फिर भी वे अपना काम समय से नहीं कर पाते हैं। अतः एक सफल, सुखी एवं सार्थक जीवन जीने के लिए यह आवश्यक है कि हमें प्रयास करके समय का प्रबन्धन करना सीखना चाहिए।

विज्ञान के आविष्कारों ने हमारे जीवन को बहुत आसान बना दिया है। परिवहन एवं संचार के साधनों तथा अन्य सुविधा के उपकरणों के कारण अब महीनों का कार्य घण्टों में, व घण्टों का कार्य मिनटों में होने लगा है। इसके परिणाम स्वरूप होना तो यह चाहिए था कि हमारे जीवन में समय की अधिकता रहती। लेकिन व्यवहार में हो क्या रहा है? निरन्तर समय की कमी होती जा रही है। जितना अधिक विकास, समय की उतनी अधिक कमी।

इससे यह स्पष्ट होता है कि वास्तव में समय की कमी अथवा बर्बादी के लिए वाह्य रूप से प्रभाव डालने वाले घटकों को उत्तरदायी नहीं माना जा सकता है। व्यक्ति का आन्तरिक स्वभाव तथा आदतें ही इसके लिए उत्तरदायी होती हैं।

**समय का महत्त्व** — समय एक अतिविशिष्ट, सार्वभौमिक संसाधन है। समय के प्रभावी प्रबन्धन के बिना योग्यता, ज्ञान, अनुभव तथा कौशल का पूरा प्रयोग नहीं किया जा सकता है। अन्य संसाधनों के विपरीत समय एक ऐसा संसाधन है जो न तो किसी से उधार लिया जा सकता है और न ही किसी को दिया जा सकता है। फिर भी यह हम सभी के पास बराबर मात्रा में रहता है। समय का न तो संग्रह किया जा सकता है और न विस्तार। जैसे-जैसे हमारा व्यक्तिगत जीवन अथवा कार्यक्षेत्र विकसित व विस्तीर्ण होता जाता है, समय का महत्त्व बढ़ता जाता है। समय के प्रवाह को रोका नहीं जा सकता। एक बार व्यतीत हो चुके समय को हम वापस नहीं पा सकते।

**समय को देखने की दो दृष्टियां —**

1. पश्चिमी देशों में समय प्रबन्धन पूर्णतया उपयोगितावादी, उत्पादनवादी व बाजारवादी दृष्टिकोण पर आधारित है। इसका मूल उद्देश्य है कम से कम समय में अधिक से अधिक उत्पादन करके ज्यादा से ज्यादा लाभ कमाना। इसके परिणाम स्वरूप मानव का मशीनीकरण हो गया है। इस विचारधारा में समय-प्रबन्धन को मात्र आर्थिक संसाधन के रूप में देखा जाता है। यही भाव अंग्रेजी की कहावत, Time is money, से भी आता है।

2. भारतीय जीवन में सामान्यता प्रचलित है कि जब समय आएगा सभी काम स्वतः ही हो जायेंगे।

इसके परिणाम स्वरूप हमारे समाज में अकर्मण्यता व निष्क्रियता का भाव ज्यादा बढ़ा और समय-प्रबन्धन को बहुत महत्वपूर्ण नहीं माना गया।

मूल्यों की दृष्टि से समय भी एक जीवन मूल्य है। इसका सदुपयोग करके ही अपनी क्षमताओं का विकास कर सकते हैं तथा जीवन के सभी पक्षों को समृद्ध बना सकते हैं। इसके लिए हमें समय का ही नहीं वरन् अपने काम का और उससे भी अधिक स्वयं अपना प्रबन्धन करना होगा। तभी हम एक मूल्यनिष्ठ व्यक्ति के रूप में भली भांति विकसित हो पाएंगे तथा एक सफल, सुखी एवं सार्थक जीवन जी पाएंगे।

#### समय प्रबन्धन से तात्पर्य —

- अपने समय को व्यवस्थित करना, उसका सदुपयोग करना।
- कौन सा समय किस कार्य के लिए सबसे अनुकूल होगा, इसका निर्धारण करना।
- किसी कार्य को अपनी क्षमता के अनुसार निर्धारित समय सीमा के अन्दर पूरा कर लेना ही समय का प्रबन्धन है।

#### समय प्रबन्धन में बाधक घटक —

समय प्रबन्धन अथवा स्वयं के प्रबन्धन में हमारे व्यक्तित्व की कुछ आन्तरिक प्रवृत्तियाँ व व्यवहार बाधक होते हैं। इन्हें जाने बिना हम उन पर नियन्त्रण नहीं रख सकते। ऐसे कुछ महत्वपूर्ण बिन्दु निम्नांकित हैं—

1. आन्तरिक द्वन्द, आन्तरिक अव्यवस्थायें — कई प्रकार के विचार, कई कार्य एक साथ करने की मानसिकता, निर्णय न ले पाने की क्षमता, व्यक्ति में आन्तरिक अव्यवस्था उत्पन्न कर देते हैं। जिससे समय के मूल्य की उपेक्षा होती है।
2. दैनिक जीवन में नियोजन के अभाव में प्राथमिकताओं को तय न कर पाना।
3. कुछ व्यक्ति जटिल एवं रुचिहीन कार्यों को

टालने की आदत बना लेते हैं। इस प्रवृत्ति के कारण चिन्ता में वृद्धि होती है, जिससे व्यर्थ समय बर्बाद होता है।

4. सामान्य कार्यों को लोग अधिक प्रयास या प्रयत्न द्वारा ऐसा दिखाने का प्रयास करते हैं कि उसमें वे पूरी तरह लगे हैं। इससे हम अपनी पूरी क्षमता से कार्य नहीं कर पाते, और समय भी बर्बाद होता है।

5. कभी-कभी हम एक ही समय में कई कार्य करना चाहते हैं। इससे कोई भी कार्य समय पर नहीं हो पाता। वर्तमान समय में कार्य के साथ-साथ मोबाइल पर बात करने का प्रचलन तीव्रगति से बढ़ रहा है।

6. किसी भी कार्य को पूरी तन्मयता से नहीं कर पाना। एक कार्य से दूसरे कार्य पर शिफ्ट होते रहना। एकाग्रता का अभाव।

7. सामर्थ्य से अधिक वादे कर लेना तथा अवास्तविक लक्ष्यों का निर्धारण करना। यह प्रवृत्ति व्यक्ति को असन्तुलित कर देती है।

8. कुछ लोग किसी समस्या पर सामान्य दशा में ध्यान नहीं देते। इस कारण जब समस्या गंभीर हो जाती है और संकट का रूप ले लेती है तब वे खुद परेशान हो जाते हैं और अपने साथ के अन्य लोगों को भी परेशान कर देते हैं। तब समस्या को सुलझाने में कहीं अधिक कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

9. अनावश्यक लोगों से मिलना, गप्पबाजी, बैठकबाजी, टेलीफोन व मोबाइल पर अनावश्यक बातचीत, आदि समय को बर्बाद करते हैं।

10. रचनात्मक कार्यों में बार-बार बाहरी हस्तक्षेप से समय नष्ट होता है।

#### प्रभावी समय प्रबन्धन के कुछ सुझाव —

1. दीर्घकालिक व दैनिक कार्यों का नियोजन करें। सभी कार्य को योजना-बद्ध तरीके से करें।



2. कौन-सा कार्य कितने समय में हो सकता है, इसका सही आंकलन करें।
  3. कार्यों की समय सीमा का निर्धारण करें।
  4. प्राथमिकताएं तय करें— क्या अधिक महत्वपूर्ण है और क्या कम।
  5. समय—समय पर योजना का, कार्य की प्रगति का और समय सीमा का मूल्यांकन करें।
  6. अपने दैनिक उपयोग की वस्तुओं को व्यवस्थित करके महत्वपूर्ण कार्यों के लिए अधिक समय निकालें।
  7. लम्बे व कठिन कार्यों में विश्राम भी लेना चाहिए ताकि व्यवस्थित होकर उत्साह पूर्वक कार्य करते रहें।
  8. जरूरत से ज्यादा वादा न करें तथा सोच विचार कर वादा करें। ना कहना भी सीखें।
  9. अपने कार्य में दूसरों का सहयोग लेना सीखें। कार्यों को दूसरों को भी सौंपें।
  10. कार्यों के बीच सामंजस्य इस प्रकार बनायें, अर्थात् ऐसा क्रमबद्ध करें, कि एक कार्य से दूसरे कार्य पर आसानी से शिफ्ट हो सकें।
  11. सबसे कठिन व रुचिहीन कार्य को सबसे पहले करें, ताकि उसे हम अपनी पूरी ऊर्जा से कर सकें।
  12. प्रतिदिन का कार्य उसी दिन करने की आदत डालें।
  13. कार्य के बाद आराम शोभा देता है— कुछ लोग अन्तिम समय में या अन्तिम दिन में ही कार्य करते हैं। जिससे जल्दी-जल्दी में देरी हो जाती है।
  14. खाली समय का उचित उपयोग करें। यात्रा करते वक्त या किसी की प्रतीक्षा करते वक्त कोई अच्छी पुस्तक पढ़ें।
  15. किस काम के लिए कौन-सा समय उपयुक्त होगा, इसका निर्धारण करें।
  16. जीवन के विभिन्न पक्षों के लिए समय, श्रम, विश्राम, मनोरंजन के लिए समय, अपने स्व विकास के लिए समय, पारिवारिक व सामाजिक कार्यों के लिए समय का निर्धारण करें।
  17. समय से सभी काम हो जाय इसके लिए आवश्यक है उन्हें कब करना है यह याद रहे। इसके लिए उन्हें डायरी में लिख लेना सहायक रहता है।
  18. कभी भी ये न सोचें कि मेरे पास समय नहीं है। इसके विपरीत मन में यह भाव रखें कि सभी करने योग्य, सार्थक कामों के लिए मेरे पास समय ही समय है और न करने योग्य, निरर्थक कार्य के लिए मेरे पास कोई समय नहीं है।
  19. यदि समय से किसी कार्य को करने अथवा समय के साथ चलने पर सुख व संतोष का अनुभव होता है, और ऐसा न कर पाने पर दुःख होता है, तो समझिए की समय प्रबन्धन के आधे से अधिक गुण-कौशल आप ने सीख लिए।
- स्वयं में व्यवस्थित व्यक्ति के गुण —**
1. समय की पाबन्दी निभाने वाले व्यक्ति स्वभावतः अपने वचन के पक्के होते हैं। उनकी कथनी व करनी में समानता पायी जाती है।
  2. गुणविहीन दस कार्य करने की अपेक्षा वे गुणयुक्त एक ही कार्य करना बेहतर समझते हैं।
  3. वे कभी भी ऐसा नहीं सोचते की आओ किसी तरह समय काटें।
  4. समय प्रबन्धन की कला में निपुण व्यक्ति सुनियोजित एवं व्यवस्थित जीवन व्यतीत करते हैं। वे हर वस्तु को सहेज कर निश्चित स्थान पर रखते हैं।
  5. अपने समय के साथ-साथ दूसरों के समय का मूल्य, उनकी आवश्यकताओं, सुविधाओं व कठिनाइयों का भी ध्यान रखते हैं।
  6. समय के पाबन्द व्यक्तियों के साथ इंतजार की पीड़ा नहीं सहनी पड़ती है। इसलिए ऐसे व्यक्तियों के साथ कार्य करने में सुखद अनुभूति होती है। •

## मानवता का यथार्थ

डॉ० मनीषा एस. गुप्ता

आज विश्व में समृद्धि और सम्पन्नता का पर्याय ही बदल चुका है। हर तरफ जहाँ मनुष्य एक दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयास कर रहा है वहीं हर देश अपने को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने को आतुर हैं। अगर इक्कीसवीं सदी के मानवों को मानव की परिधि में रखा जाए तो वह केवल नाम मात्र का ही रह गया है क्योंकि मानवता के गुण—प्रेम, दया, त्याग, करुणा, सहानुभूति इत्यादि तो दुर्लभ हो चुके हैं। यह सद्गुण अब सिर्फ आदर्श वाक्य के रूप में ही जाने जाते हैं, इनका व्यवहारिकता से कोई रिश्ता नहीं है। इस प्रतिद्वन्द्विता के दौर में व्यक्ति के पास इतना समय नहीं बचा है कि वह इन गुणों या विषयों पर विचार करे। हमारा जीवन अत्याधुनिक मशीन जैसा होता जा रहा है जहाँ हम सब अपने स्वयं से भी परस्पर संबंध स्थापित नहीं कर पा रहे हैं। भौतिकतावाद ने पूरे विश्व में अपने पैरों को पसार दिया है। परिणामस्वरूप हर व्यक्ति का आकलन उसके बाह्य आवरण तथा उपभोग की जाने वाली वस्तुओं से किया जा रहा है और व्यक्ति का चरित्र, सद्गुण और आचार—विचार निराधार होते जा रहे हैं।

प्रश्न यह उठता है कि क्या आज के मनुष्यों को ही भौतिक सुख—सुविधाओं का ज्ञान प्राप्त हुआ? क्या प्राचीन काल में इन वस्तुओं का कोई मोल नहीं था? उत्तर निश्चित ही हमें पुनः विचार करने को मजबूर कर देगा। आदिकाल में भी साधन—सम्पन्नता उपलब्ध थी और उसके अवशेष हड़प्पा, मोहनजोदड़ो, लोथल (सिंधु सभ्यता) रोम, मेसोपोटामिया के प्राचीन नगरों में दिखाई देते हैं। आश्चर्यजनक बात यह है कि उस युग के मानवों की कृतियों के अवशेष आज से कहीं ज्यादा उत्कृष्ट और वैभवशाली थे। उनके शोध कार्य हमारे वैदिक

साहित्य के अभिन्न अंग हैं जो यह स्पष्ट करते हैं कि हमारे ऋषियों—मनीषियों के विचार, दूरदर्शिता वर्तमान विज्ञान की परिधि से बहुत ऊपर थे। उन्होंने विज्ञान, खगोलशास्त्र, आयुर्वेद, शल्य—चिकित्सा, कला—वास्तुशिल्प के उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किये जिसकी आज की सदी के मानव कल्पना भी नहीं कर सकते।

भारत के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो० जे०के० मेहता ने अपनी पुस्तक में आने वाले समय में भौतिकतावाद का स्वरूप चित्रित किया था। उनका मानना था कि जैसे—जैसे सभ्यता का विकास होता है मनुष्य नई—नई वस्तुओं का उपभोग करता जाता है परन्तु एक निश्चित समय के बाद वह वस्तुएँ उसे संतोष नहीं देतीं। अतः वह इच्छारहित स्थिति में पहुँच जाता है। जहाँ वह वस्तु उसके दुःख का कारण बन जाती है। ऐसी ही स्थिति भौतिकतावाद और पूंजीवाद ने जन्म दी है। आज हम जितनी नई खोजें कर रहे हैं उतना ही अपनी प्रकृति और स्वयं से दूर होते जा रहे हैं। आज का मनुष्य संवेदनशीलता को खोता जा रहा है। पूंजीवाद और उत्तर आधुनिकता ने मशीनीकरण को इस तरह बढ़ाया है कि हम सब एक—दूसरे से कट चुके हैं। हमारे पास अपने परिजनों और समाज के लिए समय ही नहीं बचा है जिसके कारण आपसी मेलजोल—भाईचारा समाप्त होता जा रहा है। इस नई प्रथा ने स्वकेन्द्रित समाज की नींव रख दी है। हर व्यक्ति संयुक्त परिवार की अपेक्षा अकेला रहना चाहता है परन्तु इस अकेलेपन ने अनेक प्रकार की कुरीतियों को जन्म दे दिया है जिनके बारे में पचास वर्ष पहले किसी ने सोचा तक नहीं था।

आज विश्व के समस्त देश प्राकृतिक संपत्तियों और संसाधनों का अप्रत्यासित दोहन कर रहे हैं।



वैश्वीकरण ने एक ओर जहाँ हमारे लिए नई तकनीकों का भंडार खोल दिया है वहीं दूसरी ओर हमारे विनाश को भी अधिक प्रबल कर दिया है। खेत-खलिहानों, पर्वतों, वनों, खाद्यान्नों, पेय योग्य स्वच्छ जल का जिस तरह दुरुपयोग किया जा रहा है उससे यही लगता है कि हम सब केवल अपने लिए जी रहे हैं और भविष्य की आने वाली पीढ़ियों की हमें कोई चिन्ता नहीं है। वैज्ञानिकों की अपार सफलताओं ने हमें निःसंदेह चाँद, तारों, अनेक ग्रहों तक तो पहुँचा दिया है और अब “आगे जहाँ और भी है” इस खोज पर निकल पड़े हैं, परन्तु अपनी धरती और मूल गुणों से हमारा संबंध नष्ट हो चुका है। भौतिकतावाद ने हमसे मानवता तथा संवेदनाओं को छीन लिया है। परिणामस्वरूप मनुष्य पशुओं से भी निम्न स्तर का आचरण करने लगा है। पशु तो अपना पेट भरने के लिए शिकार करता है परन्तु मनुष्यों की अधिक शक्तिशाली बनने की लालसा ने आपसी बैर को इस तरह बढ़ा दिया है कि आज पूरे विश्व में शक्ति प्रदर्शन हो रहा है। विज्ञान की महत्ता के नाम पर लोग परमाणु बमों, मिसाइलों और अत्याधुनिक हथियारों का आविष्कार कर रहे हैं और उसे एक-दूसरे पर प्रयोग कर रहे हैं। क्या यही मानव की श्रेष्ठता को सिद्ध करने का पर्याय है? इन सब का परिणाम हमें वैश्विक तापमान में वृद्धि (ग्लोबल वार्मिंग), सामुद्रिक जलस्तर में वृद्धि, ग्रीन-हाउस गैसों का नकारात्मक प्रभाव, भयंकर तूफान-भूकम्प का आगमन, इत्यादि के रूप में सहना पड़ रहा है। अनेक असाध्य रोगों का प्रकोप बढ़ता जा रहा है जिन्हें मनुष्य ने स्वयं ही जन्म दिया है।

हमारी जीवन-शैली में इन सब कारणों से अनेक विषमतायें पैदा हो गयी हैं। आजकल मांसाहारी होने का फैशन हो गया है। इस कारण प्रतिदिन लाखों-लाख, पशुओं-पक्षियों, जलचरों का वध हो रहा है। कहीं इसे वाणिज्य के लाभ से जोड़ा जाता

है और सरकारी अनुमति दी जाती है जैसे जापान, नार्वे, फिनलैण्ड इत्यादि, तो कहीं इसे गैर-कानूनी तरीके से किया जाता है जैसे भारत, पाकिस्तान, चीन, कोरिया। हमारे अंदर का इंसान न जाने कहाँ मरता जा रहा है कि रोज अखबारों, टेलिविजनों में इन बेजुबान जीवों की निर्मम हत्या दिखायी जाती है परन्तु वह किसी के लिए भी दुखद नहीं होता सिवाय कुछ गैर-सरकारी संगठनों के। कुछ दिनों पहले ही बँगलोर के नगर निगम के कर्मचारियों ने सड़कों से आवारा कुत्तों को मारने का भयानक दृश्य टेलिविजनों पर प्रदर्शित किया जिसमें जहरीली सुइयों एवं, विद्युत के तारों के द्वारा इन बेजुबान जानवरों को मारा गया परन्तु यह घटना किसी भी शैक्षणिक या सरकारी अफसरों के विचार-विमर्श का हिस्सा नहीं बनी, क्योंकि किसी के हृदय में उन दृश्यों को देखकर पीड़ा नहीं हुई। वैसे ही कर्नाटक, केरल के जंगलों में अक्सर हाथियों को पेड़ों से बाँधकर गांव वाले और वन अधिकारीगण पत्थरों, लाठियों से पीटकर अधमरा कर देते हैं और उनके बहुमूल्य दाँतों को जीवित शरीर से काटकर अलग कर देते हैं जिससे उन दाँतों को विदेशियों को बेचा जा सके। यह हमारी हजारों साल की भारतीय परम्परा की देन नहीं है। वस्तुतः पश्चिम देशों के भौतिकतावाद ने हमें इतना लालची बना दिया है कि आज पिता-पुत्र या मां-पुत्री के संबंध भी छिन्न-भिन्न हो रहे हैं।

हमारी सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक संरचनाओं का इस तरह ह्रास हो रहा है कि आने वाले समय में हम सब अपने आपको ईश्वर की उत्कृष्ट रचना कहलाने योग्य भी नहीं रह पायेंगे। अगर हम सब अपनी इच्छाओं पर काबू न कर सके तो आने वाले युगों में मानव प्रजाति एक लुप्त प्रजाति के रूप में गिनी जायेगी क्योंकि मनुष्य ने स्वयं के विनाश के लिए अनेक मार्ग खोल लिये हैं और हम सब बहुत तीव्र गति से अपने विनाश के पथ पर अग्रसर हो रहे हैं। •